काव्य-कमल

संग्रह-कर्त्ता

गोकुलचन्द्र शर्म्मा

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३८

मूल्य ।॥=)

वक्तव्य

कविताओं के इस चयन में हमने विद्यार्थियों की रुचि और उनके भाव-विकास पर प्रधान रूप से ध्यान दिया है। अवधी, ब्रज और खड़ी बोली इन तीनों भाषाओं से उपयुक्त काव्य चुन कर यह त्रिदल कमल प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध-काव्यों के अंशों को मुख्य स्थान देने की चेष्टा की गई है; क्योंकि कथात्मक काव्य की ओर विद्यार्थियों की प्रवृत्ति सहज ही पाई जाती है। काव्य में ऐसे विषयों की ओर भी दृष्टि रखी गई है, जो केवल मनोरञ्जन की सामग्री ही न हों, वरन् विचारों की निर्मलता और उच्चता के कारण चारित्रिक महत्त्व भी रखते हों।

कितने ही प्रसिद्ध कवियों की कविता के न आ सकने का कारण यही है कि यदि सबमें से चुनाव किया जाता तो पुस्तक की आकार-वृद्धि हो जाती और विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति पर आवश्यकता से अधिक बोझ पड़ता। हमारी श्रद्धा और सम्मान उन कवियों के प्रति भी कम नहीं, जिनका उल्लेख हम नहीं कर पाये हैं।

परिशिष्ट में हमने बहुत-से कवियों की सुन्दर रचनाएँ दी हैं, पर उनका परिचय न देना भी इसी कारण है कि विद्यार्थियों पर बोझ न बढ़ाया जाय।

इस संग्रह में हमें अपने मित्र पं० टीकाराम शर्मा से जो सहायता मिली है उसके लिए धन्यवाद देना उनके ऋण को कम करना होगा।

आशा है यह काव्य-कमल विद्यार्थियों के हृदय-कमल को मुकुलित कर सकेगा।

—गोकुलचन्द्र शर्मा

परिचय

सरोवर के निर्मल जल पर छाये हुए उत्फुल्ल कमलों की छटा कितनी नयनाभिराम होती है ! उसे देख क्या किसी को सहसा भान होता है कि विधाता ने यह अद्भुत सौन्दर्य कीचड़ के गर्भ से उत्पन्न किया है ? काव्यरूपी कमल की आत्मानन्ददायिनी छवि पर भी अगणित रसिकों के मन-भ्रमर गुञ्जारते और उसके मधुर मकरन्द का पान करते रहते हैं; किन्तु उनमें से कितनों को पता होता है कि उसके वर्ण-विधाता कवि ने इस माया-मलिन जगत् की कीचड़ का अवगाहन कर उस भव्य कुसुम को विकसित किया है। काव्य-कमल कवि की हृदय-भूमि का उपहार है; उसके प्राणों का पराग है। सचमुच कविता को समझने के लिए कवि का हृदय टटोलना पड़ता है। उसके लिए चाहिए कवि के साथ सहानुभूति और कवि की वेदना का अनुमान।

इस संग्रह में हिन्दी की तीन शाखाओं—अवधी, ब्रज और खड़ी बोली—पर खिले हुए काव्य-कमलों का एक गुच्छ है और परिशिष्ट में कुछ बिखरी हुई, किन्तु मनोहर मुकुलित पङ्खड़ियाँ। इन्हीं भाषाओं के मृणाल-तन्तु से हिन्दी-काव्य-कमल ऊँचा उठा और पोषित हुआ है। अतः इनके विकास का ज्ञान काव्य के अध्ययन में सहायक होगा।

हिन्दी-भाषा

हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति पर विचार किया जाय तो इसका स्रोत वही आर्यभाषा है, जिसका साहित्यिक स्वरूप वैदिक संस्कृत में दिखाई देता है। प्रत्येक भाषा के दो रूप सर्वत्र रहते हैं—एक बोलचाल का और दूसरा साहित्यिक। बोलचाल की भाषा हमारे जीवन-व्यवहार में

काम आती और साहित्यिक भाषा का रूप परिष्कृत व्याकरण-सम्मत और शिष्ट रहता है। वही विद्वानों के समाज में तथा जातीय विचार-विनिमय में अधिक आदर पाती है, किन्तु बोलचाल की भाषा, व्यवहार की सुविधा के कारण, लोक में अधिक प्रिय होती और, उच्चारण आदि की विविधता के कारण, परिवर्तित होती रहती है। धर्म, समाज, राज-नीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली क्रान्तियाँ भी इस परिवर्त्तन में योग देती हैं। प्रायः देखा जाता है कि लगभग चार-पाँच शताब्दियों में साहित्यिक भाषा प्रचलित भाषा से भिन्न हो जाती है। उस समय साहित्यिक भाषा जन-साधारण के लिए दुर्बोध और अप्रयोजनीय हो जाती है। तब बोली जानेवाली भाषाओं में से कोई एक, जो प्रमुख होती है, साहित्यिक भाषा का स्थान लेने लगती है। यह नियम सभी उन्नतिशील भाषाओं के लिए एक-सा है।

इसी नियम के अनुसार वैदिक संस्कृत तो वेदों की साहित्यिक भाषा रही, परन्तु उसका बोलचाल का रूप समय के साथ बदलता रहा। कारण यह था कि आर्यों ने पहले-पहल पंजाब को अपनी निवास-भूमि बनाया। धीरे-धीरे वे इस देश में फैले और यहाँ के निवासियों से बातचीत करने का साधन उन्हें बोलचाल की भाषा को ही बनाना पड़ा। दो जातियों के सम्पर्क से जब उस भाषा में काफ़ी परिवर्तन होने लगा, तो आर्यों ने, अनार्य भाषाओं के मेल से बचने के लिए, अपने साहित्य की भाषा संस्कृत बनाई। इसी संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, मनुस्मृति आदि ग्रंथ रचे गये और इसी में कालिदास, भवभूति आदि ने काव्य सृष्टि की। किसी समय (विक्रम, भोज आदि के राजत्वकाल में) इस संस्कृत की शिक्षा और उसका प्रचार भी बहुत बढ़ा, परन्तु पाणिनि ने व्याकरण-द्वारा उसे ऐसा जकड़ दिया कि उसका आगामी विकास रुक गया। वह अब तक उन्हीं नियमों से जकड़ी हुई है, और अब कुछ इने-गिने विद्वानों वा आश्रमों को छोड़ अन्यत्र बोलने में

नहीं आती। हाँ, हमारे धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों तथा संस्कारों का भाण्डार अब भी उसी में सुरक्षित है।

इधर उसी बोलचाल की प्राकृत भाषा का प्रवाह तेज़ी से बढ़ता गया। जन-साधारण और घरेलू जीवन में उसी का प्रयोग होता रहा। पहली प्राकृत अर्थात् पाली भाषा में बौद्धों के ग्रंथ लिखे गये और दूसरी प्राकृत में जैन-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस प्राकृत के देश-भेद से कई रूप हो गये। पञ्जाब में पैशाची, महाराष्ट्र में महाराष्ट्री, बङ्गाल में मागधी, बिहार और युक्त-प्रान्त के पूर्वीय भाग में अर्धमागधी और ब्रज में शौरसेनी प्राकृत बोली जाती थीं।

इन प्राकृतों से अपभ्रंश भाषाओं का जन्म हुआ। परन्तु, अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य की रचना नहीं हुई, अथवा अब उसका पता नहीं है। इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से आधुनिक हिन्दी की बोलियों का जन्म हुआ।

अर्धमागधी प्राकृत वा उसके अपभ्रंश से अपनी भाषा की, और शौरसेनी वा उसके अपभ्रंश से ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई। जायसी, तुलसी आदि का सहारा पाकर अवधी का साहित्य फला-फूला और सूर आदि ने ब्रजभाषा का मुख उज्ज्वल किया।

ब्रज और अवधी अपने-अपने प्रान्त की बोलचाल की भाषा तो थीं ही, साहित्य में भी वे ख़ूब विकसित हुईं। ब्रजभाषा ने तो समस्त उत्तरी भारत के साहित्य पर प्रभाव डाला और काव्य की भाषा में उसी की तूती बोलने लगी। यह वह समय था जब मुसलमानों का राज्य दिल्ली में जम रहा था और उन्हें एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी, जिसमें वे अपने विचारों का विनिमय कर सकें। इसके लिए उन्होंने बोलचाल की भाषाओं में से खड़ी बोली को चुना। यह भाषा दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जाती थी। आज हिन्दी-गद्य और पद्य दोनों की भाषा यही खड़ी बोली है; यही आधुनिक हिन्दी है और इसी का प्रचार वर्तमान हिन्दी-साहित्य द्वारा हो रहा है।

काव्यकार

हिन्दी-भाषा और साहित्य की रूप-रेखा का परिचय पाकर स्वभावतः उन कवियों के विषय में कुछ जानने की अभिलाषा होती है, जिनकी प्रतिभा से 'काव्य-कमल' की प्रसूति हुई है। अतः उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है, जिससे उनके जीवन तथा रचनाओं से कुछ अभिज्ञता प्राप्त हो जाय और उनके विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हो।

कबीरदास

महात्मा कबीर पढ़े-लिखे न थे। उन्होंने कभी हाथ में क़लम भी नहीं पकड़ी। साधु-सन्त और फ़क़ीरों की संगति के प्रभाव से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। इनमें विलक्षण प्रतिभा थी। इसी के बल ये अनुभवी सन्त और कवि हुए। ये सत्य के उपासक थे। लोग की रीति-नीति और आडम्बर से इन्हें चिढ़ थी। कविता करने के लिए इन्होंने कविता नहीं की, बल्कि सत्य की खोज में इनके हृदय में जो उमंग उठती थी उसी को अपनी चंग पर गाते फिरते थे। कबीर के राम उनके सत्य देव ही थे। और उनकी नगरी सत्य की नगरी ही थी। हिन्दू-मुसलमानों को झगड़ते देख इन्हें बड़ा दुःख होता था। उनमें मेल कराने का ये सदैव प्रयत्न करते और सबको एक ही ईश्वर की सन्तान समझ दोनों की बुराइयों पर उन्हें ख़ूब फटकार सुनाते थे। इनकी बानी तो अटपटी थी, पर उसमें एक अनूठापन था, जो लोगों के चित्त पर गहरा प्रभाव डालता था। इनकी उपासना में स्त्री, शूद्र आदि सबको समान अधिकार था। ये निर्गुण, निराकार परमात्मा की उपासना करते थे और अवतार, पैग़म्बर आदि को न मानते थे। इनका

जीवन अत्यन्त पवित्र था। साधु और विरागी होते हुए भी ये नित्य अपना जुलाहे का काम करते थे। इनकी बानी का संग्रह इनके शिष्यों द्वारा हुआ। इनकी भाषा में कई भाषाओं का मेल है, पर वह प्रधानतः अवधी है। इन्होंने स्वयं लिखा है कि 'मेरी बोली पूरबी' है।

इनका जन्म संवत् १४५६ वि० में और मृत्यु सं० १५७५ में हुई। ये हिन्दू-माता के गर्भ से उत्पन्न हुए, पर इनका पालन एक जुलाहे के परिवार में हुआ था।

इनकी रचनाओं के संग्रह—कबीरबीजक, कबीरवचनावली, कबीर-ग्रन्थावली आदि नामों से प्रकाशित हुए हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी अपने समय के सिद्ध और पहुँचे हुए फ़क़ीर थे। यद्यपि इनकी एक आँख और एक कान चेचक के कारण बेकार हो गये थे और इनके चेहरे पर कुरूपता आ गई थी, तथापि इनका हृदय अत्यन्त भावुक और कोमल था। लोगों को इनमें श्रद्धा थी और इनके प्रेम-मार्ग से वे आकृष्ट होते थे। हिन्दू और मुसलमानों के जीवन में व्यवहार की एकता का सराहनीय प्रयत्न इन्होंने अपनी प्रेमगाथा 'पद्मावत' द्वारा किया। इसमें रानी पद्मावती और अलाउद्दीन की कथा का आधार है। ये सूफ़ी मत के माननेवाले थे। सूफ़ी मत फ़ारस से भारत में आया। इसमें हृदय के अनुभव-द्वारा परमात्मा से संयोग प्राप्त करने का उप-देश है। जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। उसमें पाण्डित्य नहीं, बल्कि प्राकृतिक मिठास है। इनकी प्रेमगाथा में सांसारिक जीवन की मनोहरता के साथ-साथ आत्मिक आनन्द की ओर भी संकेत है।

इनकी जन्मभूमि अवध-प्रान्त में जायस नामक स्थान था। अमेठी के राजा को इनके आशीर्वाद से पुत्र प्राप्ति हुई थी। इसलिए उसने अपने महल के सामने इनकी समाधि बनवाई, जो अभी तक है। इनके

जन्मकाल वा मृत्यु के समय का पता नहीं, पर ये शेरशाह के समय में संवत् १५९७ के लगभग विद्यमान थे।

इनके दो ही ग्रन्थ हैं—पद्मावत और अखरावट। इन दोनों का संग्रह जायसी-ग्रन्थावली में मिलता है।

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास ने जितनी भी कविता की सब भगवान् रामचन्द्र को लेकर ही की। उन्होंने अवधी और व्रज दोनों ही भाषाओं में रचना की, पर उनका परम प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस (रामायण) अवधी भाषा ही में है। तुलसी की अवधी में संस्कृत का पुट होने से वह साहित्यिक हो गई है, जायसी की भाँति अपने ठेठ रूप में नहीं है।

गोस्वामी जी ने श्रीराम के सगुण रूप की उपासना लोगों के सम्मुख रखी। वही उनके इष्टदेव थे। तुलसी उच्च कोटि के साधु और उच्च कोटि के ही कवि थे। वे संसार को राममय देखते थे। उन्हीं राम के चरित्र का उन्होंने ऐसा विशद रूप खड़ा किया है कि हिन्दू-जीवन का कोई अङ्ग ऐसा नहीं जिसका आदर्श राम के जीवन में न मिलता हो। उन्होंने संसार को बाहरी और भीतरी दोनों आँखों से देखा अर्थात् इस लोक के कल्याण का भी ध्यान रखा और परमार्थ पर भी पूरी दृष्टि रखी। उनकी रामायण हिन्दू-जाति की प्राण-पोषिका है। वे अत्यन्त उदार और प्रतिभाशाली थे। उन्होंने सब देवों के प्रति श्रद्धा दिखाकर हिन्दू-जाति को एकता के सूत्र में बाँधा और राम का वह अवलम्बन दिया कि वह अब कठिन से कठिन सङ्कट का सामना कर सकती है।

गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५८३ में बाँदा ज़िले के राजापुर ग्राम में माना जाता है। इनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी और पत्नी का बुद्धिमती था। कहावत है कि अपनी स्त्री से

अतिशय अनुराग होने के कारण ये उसके पीछे-पीछे रात में ही ससुराल पहुँचे और वहाँ उसके द्वारा लज्जित किये जाने पर राम के अनन्य उपासक बन गये। इनकी मृत्यु के विषय में यह दोहा कहा जाता है :—

संवत् सोरह से असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर॥

पर, अब पता लगा है कि इस दोहे की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार ठीक है :—

"सावन कृस्ना तीज सनि, तुलसी तज्यौ सरीर।"

गोस्वामी जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ—रामचरितमानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली हैं। इनके छोटे ग्रन्थों में बरवै रामायण, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल हैं।

सूरदास

महात्मा सूर ने व्रज-भाषा में बालकृष्ण की लीलाओं का वह संगीत छेड़ा कि उनका स्वर सारे उत्तर-भारत में गूँज उठा। वात्सल्य-प्रेम से लोगों के मुख खिल उठे; व्रजभाषा की ठेठ माधुरी ने ओठों पर अधिकार जमा लिया। ये भगवान् कृष्ण के सगुण रूप के भक्त परम वैष्णव थे। कृष्ण की लीलाओं में ये ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उनकी एक-एक लीला का इन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है कि कोई भाव शेष नहीं रह गया। इनका सूरसागर सवा लाख पदों की रचना कहा जाता है, पर अभी उसके लगभग ६,००० पद ही प्राप्त हुए हैं। ये स्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य थे। ये व्रज-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि और कवियों में सूर (सूर्य) माने जाते हैं। इनके भाव गंभीर और इनकी सूझ बड़ी गहरी थी। प्रेम-भक्ति का संदेश इनकी कविता में बड़ी ही उत्तमता से प्रकट किया गया है।

इनका जन्म संवत् १५४० के लगभग रुनकता ग्राम में हुआ था, जो आगरा के समीप है। ये जन्मान्ध थे, पर कोई कोई इसे ठीक नहीं मानते। महाकवि चन्द वरदाई के वंश में इनका जन्म होना बताया जाता है, पर कुछ लोग इन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। इनका स्वर्ग-वास संवत् १६२० में हुआ।

इनकी रचना सूरसागर नाम से प्रसिद्ध है। सूरलहरी नामक एक अन्य ग्रन्थ भी इन्हीं का रचा हुआ है।

केशवदास

केशवदास की कविता में अलङ्कारों की प्रधानता है। भक्त कवियों ने अपनी कविता का विषय ईश्वर-सम्बन्धी रखा था, परन्तु आचार्य केशव ने काव्य की कला की ओर विशेष ध्यान दिया और इसी लोक के सौन्दर्य को अपना विषय बनाया। ये संस्कृत के विद्वान् थे, फिर भी हिन्दी में ही कविता की। इनकी कविता में क्लिष्टता पाई जाती है, पर कहीं-कहीं अलङ्कार और कल्पना का सौन्दर्य भी देखते ही बनता है। इन्होंने काव्य के लक्षण आदि पर सबसे पहले लिखा। इसलिए ये हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। रामचन्द्रिका में इनके संवाद बड़े सजीव हैं; क्योंकि राजसी ठाट-बाट से ये अभिज्ञ थे और इनमें वाणी का कौशल था।

इनका जन्म ओरछा नगर में संवत् १६१२ ई० में हुआ था। ओरछा राज्य में इनका अत्यन्त सम्मान था और ये वहाँ एक प्रकार से राजा ही थे। इनके पाण्डित्य की बड़ी धाक थी और इनके बनाये हुए छन्दों का अर्थ करने में बड़े-बड़े कवि भी चकराते थे। संवत् १६६४ में इनका शरीरान्त हुआ।

केशव के मुख्य ग्रन्थ—(१) कविप्रिया, (२) रसिकप्रिया, (३) रामचन्द्रिका।

बिहारीलाल

शृङ्गार-रस के प्रसिद्ध कवि बिहारी अपने दोहों के लिए विख्यात हैं। इनकी 'सतसई' भाषा और काव्य दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इनके भाव बहुत ही मर्मस्पर्शी हैं और इनकी-सी रचना-कारीगरी अन्यत्र दुर्लभ है। बिहारीसतसई का एक-एक दोहा इनकी प्रतिभा का परिचय देता है। पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में सतसई वह खाँड़ की रोटी है कि उसे जिधर से तोड़ो उधर ही मीठी ही मीठी है। बिहारी का निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म था। शृङ्गार के अतिरिक्त भक्ति और नीति के कुछ दोहे सतसई में हैं। वे भी उच्च कोटि के हैं। ये बड़े ही रसिक कवि थे।

बिहारीलाल का जन्म संवत् १६६० में ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर में हुआ था। ये जयपुर के महाराज मिर्ज़ा जयसिंह के आश्रय में रहे, उनसे इन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक अशर्फ़ी का पुरस्कार मिला था। इनकी मृत्यु संवत् १७२० के लगभग हुई। इनके दोहों के विषय में यह कहावत ठीक है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, बेधत सकल सरीर॥

इनकी एक पुस्तक बिहारीसतसई है, जिसमें इनके ७१९ दोहे संगृहीत हैं।

रहीम

अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना ने 'रहीम' या 'रहिमन' नाम से कविता की है। इनके दोहे अनुभव से पूर्ण और मधुर हैं। ये अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार रखते थे। स्वयं तो सुकवि थे ही कवियों और गुणियों का ये बहुत सम्मान करते और उन्हें प्रभूत दान

देते थे। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी से भी इनकी घनिष्ठता थी।

इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ। ये अकबर के दरबार के रत्नों में थे और इतिहास-प्रसिद्ध बैरमखाँ के पुत्र थे। ये अकबर के मंत्री, सेनापति और फिर जहाँगीर के भी सेनापति रहे।

इनकी कविताओं का संग्रह "रहीमरत्नावली' के नाम से छपा है।

भूषण

भूषण का नाम वीररस के कवियों में बड़े अभिमान के साथ लिया जाता है। ये छत्रपति शिवाजी के राजकवि थे और उनके साथ युद्धों में भी सम्मिलित होते थे। इस कवि को हिन्दू-गौरव का अत्यन्त अभिमान था और हिन्दुत्व के नाम पर इनके हृदय में जो तरंगें उठती थीं उन्हीं की लहर इनकी समस्त कविता में दिखाई देती है। देश की स्वाधीनता के उपासकों का गुणगान इस कवि ने बड़े उत्साह से किया। महेवा के छत्रसाल पर केवल दस छन्द लिखे हैं पर वे ही कितने ओजपूर्ण हैं। इनकी कविता को पढ़ते-पढ़ते वीरों की छाती फूल उठती और भुजदंड फड़कने लगते हैं। भूषण सचमुच राष्ट्रीय कवि थे।

इनका जन्म संवत् १६७० में तिकवाँपुर (कानपुर) में हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था और इनके छोटे भाई मतिराम थे, जो ब्रज-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने संवत् १७७२ में इस लोक से प्रस्थान किया।

इनके ग्रन्थ—शिवराजभूषण, शिवबावनी और छत्रसालदशक हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के युगप्रवर्त्तक थे। इन्होंने कविता को शृङ्गार की गली से निकाल कर राष्ट्रीयता की ओर मोड़ दिया। काव्य,

नाटक, समाचारपत्र आदि अनेक दिशाओं में हिन्दी का प्रकाश फैलाकर भारतेन्दु ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया और आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया। यद्यपि इनकी साहित्यिक प्रसिद्धि इनके नाटकों के कारण अधिक है, पर ये कवि भी कम न थे। इन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही यह दोहा खेल-खेल में बनाया था—

> लै ब्योंडा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बाणासुर की सेन को, हनन लगे बलवान॥

इनकी प्रतिभा विलक्षण थी। उदार इतने थे कि जिसने जो माँगा दिया। प्रकृति के स्वतन्त्र, अत्यन्त विनोदी और विष्णुभक्त थे। भक्ति में भी इनकी स्वच्छन्द प्रकृति झलकती है। ३५ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने लगभग २०० ग्रन्थों से हिन्दी का भाण्डार भरा। हिन्दी के लिए भारतेन्दु सचमुच अवतार थे।

इनका जन्म संवत् १९०७ में काशी में हुआ था और संवत् १९४२ में क्षयरोग से इनका शरीरान्त हुआ।

इनके ग्रन्थों का संग्रह—भारतेन्दुनाटकावली और भारतेन्दुग्रंथावली नाम से निकला है और एक और संग्रह हरिश्चन्द्रचन्द्रिका के नाम से कई भागों में है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

रत्नाकर जी हिन्दी-कविता के शृङ्गार-युग के आधुनिक प्रतिनिधि थे। इनके कथन में अनोखापन था। इनके कथा-काव्य सुन्दर बन पड़े हैं। इनकी ब्रज-भाषा में उसकी ठेठ माधुरी नहीं, बल्कि व्याकरण-सम्मत शुद्धता अधिक पाई जाती है। इनकी कविता में ओज पाया जाता है।

इनका जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था और संवत् १९८९ में इन्होंने शरीर-त्याग किया।

इनकी मुख्य रचनाएँ—गङ्गावतरण, उद्धवशतक, शृङ्गार-लहरी, गङ्गालहरी आदि हैं। इन्होंने विहारी-रत्नाकर नाम से विहारीसतसई की प्रसिद्ध टीका भी की है।

सत्यनारायण 'कविरत्न'

व्रजभाषा-कोकिल कविरत्न सत्यनारायण की कविता में अद्भुत माधुर्य है। उनकी भाषा और रचना बड़ी ललित और भावपूर्ण है। उनकी निरभिमानता, विनम्रता और सादगी देखने की वस्तु थी। इनका जीवन विचित्र काव्यमय था। इनकी कविताओं में विदग्ध हृदय की बड़ी कोमल कसक है।

आगरा के समीप धांधूपुरा नामक स्थान में इनका जन्म संवत् १९४१ में हुआ था। ये थोड़ी साहित्य-सेवा कर पाये थे कि इनका देहावसान संवत् १९७५ में गार्हस्थिक संकटों के कारण हो गया।

इनकी रचनाएँ—हृदयतरङ्ग (कविताओं का संग्रह), उत्तररामचरित और मालतीमाधव के व्रजभाषा में अनुवाद हैं।

वियोगी हरि

वियोगी हरि की कविता में भावमय भक्ति के उद्गार पाये जाते हैं। ये गद्य-काव्य भी अच्छा लिखते हैं। ये प्रेम-भक्ति के द्वारा अपने प्रभु की मूर्ति का ध्यान करते हैं। इन्होंने 'वीर-सतसई' की रचना व्रजभाषा में करके अच्छी ख्याति पाई है। इनके विचारों में उदारता है और देश के अछूतों के प्रति करुणा के भाव रहते हैं। आज-कल 'हरिजन-सेवक' पत्र का सम्पादन दिल्ली से कर रहे हैं।

इनका जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। ये सात्त्विक जीवन बिताते और फलाहार पर रहते हैं।

इनकी काव्य-रचनाओं में वीर-सतसई प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ब्रजभाषा में फुटकर पद भी लिखे हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

उपाध्याय जी की कविता में संस्कृत-पदावली-संयुक्त गम्भीर और बोलचाल को सरल भाषा दोनों पाई जाती हैं। दोनों पर उन्हें पूरा अधिकार है। यह इनकी भारी विशेषता है। इनका प्रियप्रवास ग्रन्थ खड़ी बोली का एक रत्न है। उसमें उपाध्याय जी ने कोमल भावों की बड़ी मधुर व्यञ्जना की है और भाषा भी गौरवपूर्ण है। उसके पश्चात् बोलचाल आदि में उनकी प्रतिभा की वह झलक नहीं मिलती। वे मुहावरों की लटक में पड़कर भाषा के परिमार्जन में लग गये प्रतीत होते हैं। इनको भाषा का राजगुरु कहना ठीक ही है।

इनका जन्म संवत् १९२२ में आज़मगढ़ में हुआ और अब ये हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में अध्यापक हैं।

इनके काव्य-ग्रंथ—प्रियप्रवास, बोलचाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, रस-कलश हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने ब्रजभाषा में सुन्दर कविता की है। इनका प्रधान क्षेत्र समालोचना और निबन्ध है। ये हिन्दी-भाषा के गम्भीर विद्वान् और समालोचक हैं। इनकी कविता की भाषा विशुद्ध और मनोहर होती है। ये गम्भीर विषयों पर ही अपनी लेखनी उठाते और अपने विषय की बड़ी तर्कपूर्ण विवेचना करते हैं।

इनका जन्म संवत् १९४१ में अगोना ग्राम (बस्ती) में हुआ। ये आज कल हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी-विभाग के प्रधान हैं।

इनके काव्य-ग्रंथ—बुद्धचरित, मधुस्रोत हैं।

गुरुभक्तसिंह

गुरुभक्तसिंह ने अपनी प्रकृति-प्रियता का परिचय अपनी छोटी-सी पुस्तिका सरस-सुमन में दिया था। 'नूरजहाँ' नामक प्रबन्धकाव्य की रचना कर उन्होंने साहित्य को एक नई चीज़ दी है। इनकी कविता में सरलता और दृश्यों की रमणीयता है। ये विषय का चित्र उपस्थित करने में कुशल हैं।

इनका जन्म बलिया में हुआ है।

इनकी रचनाओं में 'नूरजहाँ' प्रसिद्ध है।

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं में बड़ी सरलता, स्वाभाविकता और हृदय की अनुभूति है। ये राष्ट्रीय काव्य की रचयित्री हैं। इनकी 'झाँसी की रानी' उत्कृष्ट कविता बहुत प्रसिद्ध है। ये कहानियाँ भी अच्छी लिखती हैं।

इनका जन्म प्रयाग में हुआ है।

इनके काव्य का संग्रह 'मुकुल' और 'त्रिधारा' में मिलता है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा की ज्योतिर्मयी प्रतिभा से हिन्दी-काव्य की शोभा बढ़ी है। इनकी कविताओं में वेदना की पीड़ा और गम्भीर भावों की व्यञ्जना है। इनकी भाषा संस्कृत और संगीतपूर्ण है। स्त्री-कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने साहित्य को सुन्दर काव्य-रत्न भेंट किये हैं।

इनका जन्म संवत् १९६५ में इन्दौर में हुआ। ये प्रयाग-महिला-विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं।

इनके काव्य-ग्रन्थ—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत हैं।

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

परिशिष्ट

प्रथम दल

[अवधी-विलास]

काव्य-कमल

१—कबीर-बानी

साखी

तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन[1] में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास ॥१॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती[2] क्या करै, जो सिर बोझ न होय ॥२॥

जा कारन सब ढूँढ़िया, सो तो घट ही माँहि।
परदा दीया भरम का, तातें सूझे नाँहि ॥३॥

मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कालिह हमारी बार ॥४॥

बाढ़ी[3] आवत देख करि, तरवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥५॥

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निसफल सेव।
कह 'कबीर' वह क्यों मिलै, निसकामी[4] निज देव ॥६॥

१—पुष्पों, फूलों। २—कर वसूल करनेवाला। ३—बढ़ई।
४—निष्काम; इच्छारहित।

जाउ वैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निरमई, भला करैगा सोय ॥७॥
लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चौंच जरि जाय।
मीठो कहा अँगार को, जाहि चकोर चवाय ॥८॥
मेरा वीर लुहारिया, तू मति जालै मोहि।
इक दिन ऐसा आइगा, हौं जालौंगी तोहि ॥९॥
हिरदै भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तब ही देखिहो, दिल की दुविधा जाय ॥१०॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगले तपत अंगार।
कहै कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥११॥
पारस-रूपी जीव है, लोह-रूप संसार।
पारस ते परसा भया, परसि भया टकसार ॥१२॥
बिरह बान जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिये, उठे कराहि कराहि ॥१३॥
बिरह भुवंगम[१] तन डँसो, मन्त्र न मानै कोय।
राम वियोगी ना जियें, जिये तो बाउर होय ॥१४॥
निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥१५॥
जिभ्या में अमृत बसै, जो कोइ जानै बोलि।
बिस बासिक[२] का ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोलि[३] ॥१६॥

१—सर्प। २—वासुकि सर्पों का एक राजा। ३—तरंग; मौज।

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाइ ॥१७॥

साधु कहावन कठिन है, लाँबा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर ॥१८॥

बेड़ा[1] बाँधिन सरप का, भव-सागर के माँहि।
जो छाँड़े तो बूड़ई, गहै तो डसिहै बाँहि ॥१९॥

कमोदनी जलहरि[2] बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥२०॥

सुरहुर[3] पेड़ अगाध फल, पंछी मरिया झूर।
बहुत जतन कै खोजिया, फल मीठा पै दूर ॥२१॥

पैठा है घट भीतर, बैठा है साचेत।
जब जैसी चाहै गती, तब तैसी मति देत ॥२२॥

बोलत ही पहिचानिये, साहु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी, निकरै मुख की बाट ॥२३॥

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर ॥२४॥

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मन का फेर ॥२५॥

१—नदी आदि पार करने को बाँसों या लकड़ियों का ढाँचा।
२—जलधर; तालाब। ३—खजूर।

जूआ, चोरी, मुखबिरी[1], ब्याज, घूस, पर-नार।
जो चाहे दीदार[2] को, एती वस्तु निवार ॥२६॥

सिंहों के लहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ॥२७॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ॥२८॥

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ॥२९॥

ऋतु वसंत याचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥३०॥

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, बहुरि न मरना होय ॥३१॥

सबते है लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया का चन्द्रमा, सीस नाय सब कोय ॥३२॥

छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटन को उतपात।
कहा विष्नु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥३३॥

करगस[3] सम दुरजन बचन, रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥३४॥

१—दूसरों के काम की खबर बुरी नीयत से देना। २—दर्शन। ३—कर्कश; तलवार।

साधु भया तो का भया, बोले नाहिं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥३५॥

करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ु विरानी आस।
जाके नदिया आँगने, सो कस मरे पियास ॥३६॥

सकलो दुरमति दूरि करु, अच्छा जनम बनाव।
काग गौन[1] गति छाँड़िके, हंस गौन चलि आव ॥३७॥

कैसी गति संसार की, ज्यों गाडर[2] का ठाठ[3]।
एक परा जो गाड में, सबै गाड में जात ॥३८॥

ए करुवाई बेलरी, है करुआ फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइए, बेलि बिछोहा होय ॥३९॥

ऐसा कोई ना मिला, जासे रहिये लाग।
सब जग जलता देखिया, अपनी-अपनी आग ॥४०॥

कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करै, विष से अमिरत होय ॥४१॥

जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एकै प्रान।
हत्या कबहुँ न छूटि है, कोटिन सुनहु पुरान ॥४२॥

गुरु सिकलीगर[4] कीजिए, मनहि मस्कला[5] देइ।
सब्द छोलना छोलि के, चित दरपन करि लेइ ॥४३॥

१—गमन; चाल। २—भेड़। ३—समूह। ४—सान धरनेवाला। ५—सान धरने का एक यंत्र।

मनुष जन्म दुरलभ अहै, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥४४॥

जहँ आपा[1] तहँ आपदा, जहँ संसय वहँ सोग।
कह कबीर कैसे मिटै, चारों दीरघ रोग ॥४५॥

माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय।
मान बड़े मुनिवर गये, मान सबन को खाय ॥४६॥

करता था तो क्यों रहा, अब करि क्यों पछताय।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय ॥४७॥

सबद

(१)

हरि जन हंस-दशा लिये डोलैं, निरमल नाम चुनी चुनि बोलैं।
मुकताहल[2] लिये चौंच लभावैं, मौन रहैं की हरि-जस गावैं।
मानसरोवर-तट के बासी, रामचरन चित अन्त उदासी।
कागा कुबिधि निकट नहिं आवैं, प्रतिदिन हंसा दरसन पावैं।
नीर-क्षीर का करै निबेरा, कहहिँ कबिर सोई जन मेरा।

(२)

हृदय कपट मुख ज्ञानी, झूठे कहा बिलोवसि[3] पानी॥
काया माँजसि कौन गुना, जौ घट भीतर है मलना॥

१—अहंकार। २—मोती। ३—मथना।

लोकौ, अठसठि तीरथ न्हाई, करु आपन तऊ न जाई ॥
माँगत कबीर बारंबारी, भव-सागर तारि मुरारी ॥

(३)

संतो राह दोऊ हम दीठा।
हिंदू तुरुक हठी नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा ॥
हिंदू बरत एकादसि साधे, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागै मन नहिं हटकै, पारन करैं सगोती[1] ॥
रोजा तुरुक नमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
उनकी भिस्त कहाँ ते होई, साँझे मुरगी मारैं ॥
हिंदू दया मेहर को तुरकन, दोनों घट सो त्यागी ॥
वै हलाल, वै झटका[2] मारैं, आगि दुहौं घर लागी ॥
हिंदू तुरुक की एक राह है, सदगुरु इहै बताई।
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतो, राम न कहेउ खोदाई ॥

—कबीरदास

२—प्रेम-योगी

तजा राज, राजा भा जोगी। औ किँगरी[3] कर गहेउ बियोगी ॥
तन बिसँभर, मन बाउर लटा। अरुझा पेम[4], परी सिर जटा ॥

१—सगोत्र, भाई-बन्धुसहित। २—तलवार से एक ही वार में बकरे का गला काटना। ३—छोटी सारंगी या चिकारा। ४—प्रेम।

चन्द्र-बदन औ चंदन-देहा। भसम चढ़ाई कीन्ह तन खेहा॥
मेखल[1], सिंघी[2], चक्र, धँधारी[3]। जोगबाट, रुदराछ[4], अधारी[5]॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला। कर उदपान[6], काँध बघछाला॥
पाँवरि पाँव, दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस करि राता॥

चला भुगुति माँगै कहँ साधि कया तप जोग।
सिद्ध होइ पदमावति जेहि कर हिये वियोग॥

गनक कहहिं गनि गौन न आजू। दिन लेइ चलहु, होइ सिध काजू॥
पेम-पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा[7]॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत, नैन नहिं आँसू॥
पंडित भूल, न जानै चालू। जीव लेत दिन पूछ न कालू॥
सती कि बौरी पूछहि पाँड़े। औ घर पैठि कि सैंतै भाँड़े॥
मरै जो चलै गंग-गति लेई। तेहि दिन कहाँ घरी को देई?॥
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घरी क आपन, अंत परावा॥

हौं रे पथिक पखेरू जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम अपने घर जाहु॥

१—मेखला। २—सींग का बना हुआ बाजा। ३—एक में गुथी हुई लोहे की कड़ियाँ जिनमें उलझे हुए डोरे या कौड़ी को गोरख-पंथी साधु अद्भुत रीति से निकाला करते हैं, गोरख-धंधा। ४—रुद्राक्ष। ५—लकड़ी का एक ढाँचा जिसके सहारे साधु लोग कभी कभी बैठा करते हैं। ६—कमंडलु। ७—चतुर, होशवाला।

चहुँ दिसि आन साँटिया[१] फेरी। भई कटकाई राजा केरी॥
जावत अहहिं सकल अरकाना। साँभर लेहु, दूरि है जाना॥
सिंघल दीप जाइ अब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा॥
सब निबहै तहँ आपनि साँठी। साँठि बिना सो रह मुखमाटी॥
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलहु सब लोगू॥
गरब जो चढ़े तुरय कै पीठी। अब भुइँ चलहु सरग कै डीठी॥
मंतर लेहु होहु सँग-लागू। गुदर जाइ सब होइहि आगू॥

का निचिंत रे मानुस! आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन मन पछिताव न पाछु॥

बिनवै रतनसेन कै माया[२]। माथे छात, पाट निति पाया॥
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छाँड़ि जिनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देख भरत अब खेहा॥
सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू॥
कैसे धूप सहब बिनु छाहाँ। कैसे नींद परिहि भुइँ माहाँ?॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा। कैसे पाँव चलब तुम्ह पंथा?॥
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे खाब कुरकुटा[३] रूखा?॥

राजपाट दर परिगह तुम्ह ही सौं उजियार।
बैठि भोगरस मानहु कै न चलहु अँधियार॥

मोहिं यह लोभ सुनाव न माया। काकर सुख, काकर यह काया॥
जौ निआन तन होइहि छारा। माटिहि पोखि मरै को भारा?॥

१—डौंड़ीवाला। २—माता। ३—कड़ा, मोटा अन्न।

का भूलौं एहि चंदन चोवा। वैरी जहाँ अंग कर रोवाँ॥
हाथ, पाँव, सरवन औ आंखी। ए सब उहाँ भरहिँ मिलि साखी॥
सूत सूत तन बोलहिं दोखू। कहु कैसे होइहि गति मोखू[1]॥
जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद नहिं साधत जोगू॥
उन्ह हिय-दीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-वन सेवा॥

देखि अंत अस होइहि गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघलदीप जाव हम माता देहु अदेस[2]॥

रोवहिं नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कन्त दीन्ह बनवासू॥
अब को हमहिं करहि भोगिनी। हमहूँ साथ होब जोगिनी॥
की हम लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु सेइ हाथा॥
तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता। जहँवाँ राम तहाँ सँग सीता॥
जौ लहि जिउ सँग छाँड़ न काया। करिहौं सेव, पखरिहौं पाया॥
भलेहि पदमिनी रूप अनूपा। हम तें कोई न आगरि रूपा॥
भँवै भलेहि पुरुखन कै डीठी। जिन्हहिं जान तिन्ह दीन्ही पीठी॥

देहिं असीस सबै मिलि तुम्ह माथे निति छाव।
राज करहु चितउरगढ़ राखहु पिय अहिवात[3]॥

तुम्ह तिरिया मतिहीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै[4] घरनारी॥
राघव जो सीता सँग लाई। रावनहरी, कौन सिधि पाई?॥
यह संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गये जानौं नहिं देखा॥

१—मोक्ष। २—आदेश; आज्ञा। ३—सोहाग। ४—सलाह ले।

जोगिहि काह भोग सौं काजू। चहै न धन धरनी औ राजू॥
जूड़ कुरकुटा भीखहि चाहा। जोगी तात भात कर काहा ?॥
कहा न मानै राजा तजी सबाईं भीर।
चला छाँड़िकै रोवत फिरि कै देइ न धीर॥

—मलिक मुहम्मद जायसी

३—श्रीराम का सेतु-बंधन

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥
कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि-सिंधु-सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति अस गाई। बिनय करिय सागर सन जाई॥

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल-भालु-कपि-धारि[1]॥

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय दैव जौं होइ सहाई॥
मंत्र न यह लछिमनमन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसइ करब धरहु मन धीरा॥
अस कहि प्रभु अनुजहिं समुझाई। सिंधु-समीप गये रघुराई॥
प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई[2]॥

१—सेना। २—बिछाकर।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति॥

लछिमन बान सरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिख[१] कृसानू[२]॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपिन सन सुंदर नीती॥
ममतारत मन ज्ञान-कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहिं सम कामिहिं हरि-कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥
मकर-उरग-झष-गन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने॥
कनक थार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयउ तजि माना॥

दो०—काटेहि पइ कदली[३] फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस[४] सुनु डाटेहि पै नव नीच॥

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥
प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा[५] पुनि तुम्हरिय कीन्ही॥

१—बाण। २—अग्नि। ३—केला। ४—खगेश, गरुड़। ५—सगर के पुत्रों ने जो रामचन्द्र जी के पूर्वज थे, खोदकर सागर बनाया था।

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई॥
प्रभु आज्ञा अपेल स्रुति गाई। करउ सो बेगि जो तुमहिं सुहाई॥

दो०—सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥

नाथ नील नल कपि दोउ भाई। लरिकाई रिषि आसिष पाई॥
तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥
मैं पुनि उरधरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजसु लोक तिहुँ गाइय॥
सुनि कृपाल सागर-मन-पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा॥
देखि राम-बल-पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥
सकल चरित कहि प्रभुहिं सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा॥

सो०—सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥१॥

सुनहु भानु-कुल-केतु[१] जामवन्त कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु[२] नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥२॥

यह लघु जलधि तरत कति बारा। अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा॥
प्रभु प्रताप बड़वानल[३] भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि-बारी॥

१—ध्वजा। २—पुल। ३—समुद्र में की अग्नि जो पृथ्वी के भीतर से निकलती है।

तब रिपु-नारि-रुदन-जल-धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा ॥
सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघु-पति-तन हेरी ॥
जामवंत बोले दोउ भाई। नल नीलहिँ सब कथा सुनाई ॥
रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥
बोलि लिये कपिनिकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु मोरी ॥
राम-चरन-पंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू ॥
धावहु मरकट बिकट बरूथा[१]। आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा ॥
सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा ॥

दो०—अति उतंग तरु सैलगन लीलहिं लेहिं उठाइ।
आनि देहिं नल नीलहिँ रचहिँ ते सेतु बनाइ ॥

सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक[२] इव नल नील ते लेहीं ॥
देखि सेतु अति-सुंदर-रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥
परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी ॥
करिहउँ इहाँ संभु-थापना। मोरे हृदय परम कलपना ॥
सुनि कपीस बहु दूत पठाये। मुनिबर सकल बोलि लेइ आये ॥
लिङ्ग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ॥
सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा ॥
संकरबिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥

दो०—संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महँ बास ॥

१—समूह। २—गेंद।

दो—श्री-रघु-बीर-प्रताप तें सिंधु तरे पाषान[1]।
ते मतिमंद जे रामतजि भजहिं जाइ प्रभु आन ॥

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा ॥
चली सेन कछु बरनि न जाई। गरजहिं मरकट-भट-समुदाई ॥
सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई ॥
देखन कहँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जल-चर-बृंदा ॥
मकर नक्र[2] झख नाना ब्याला। सत-जोजन-तन परम बिसाला ॥
ऐसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं ॥
प्रभुहिं बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे ॥
तिन्ह की ओट न देखिय बारी। मगन भये हरिरूप निहारी ॥
चला कटक कछु बरनि न जाई। को कहि सक कपि-दल-बिपुलाई ॥

दो०—सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं ॥

अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई ॥
सेनसहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप[3] भीरा ॥
सिंधुपार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा ॥
खाहु जाइ फल मूल सुहाये। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाये ॥
सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अनरितु अकाल गति त्यागी ॥
खाहिं मधुरफल बिटप हलावहिं। लंका सनमुख सिखर चलावहिं ॥

१—पाषाण = पत्थर। २—नाके। ३—यूथप = टोली के नायक।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिँ। घेरि सकल बहु नाच नचावहिँ॥
दसनन्हिँ काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजस देहिँ तब जाना॥
जिन्ह कर नासा कान निपाता। तिन्ह रावनहिँ कही सब बाता॥
सुनत स्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥

दो०—बाँधे बननिधि[१] नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस॥

—गोस्वामी तुलसीदास

१—समुद्र (इसके आगे सब समुद्र के पर्यायवाची शब्द हैं, जो रावण ने चकित होकर अपने एक एक मुख से कहे थे।)

द्वितीय दल

[ब्रजभाषा-विलास]

४—श्रीकृष्ण-लीला-छवि

(१)

मेरौ मन अनत[1] कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को धावै[2]।
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै[3]॥
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

(२)

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै[4] जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न वेगि सों आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि कर करि सैन बतावै॥

१—अन्यत्र, दूसरी जगह। २—ध्यान करे। ३—खुदवावे। ४—छाती से लगाती और चूमती है।

यहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नँदभामिनि[१] पावै॥

(३)

मोहन काहे न उगिलौ माँटी।
बार-बार अनरुचि उपजावति, महरि हाथ लिये साँटी[२]॥

महतारी को कह्यो न मानत, कपट-चतुरई ठाटी।
वदन पसार दिखाय आपने नाटक की परिपाटी॥

बड़ी बार भई लोचन उघरे भ्रम-जामिनि[३] नहिं फाटी।
'सूरदास' नँदरानि भ्रमित भई कहत न मीठी-खाटी॥

(४)

सोभित कर नवनीत[४] लिए।
घुटुरुन चलत, रेणु तन मंडित, मुख दधि लेप किये॥

चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिये॥

कँठुला कंठ वज्र, केहरि-नख[५] राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल या सुख का सत कल्प जिये॥

१—यशोदा। २—कमची; पीटने की पतली लकड़ी।
३—यामिनी; रात। ४—मक्खन। ५—बघनखा।

(५)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल[१] की बेनी[२] ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिन सी भ्वैं[३] लोटी॥
काचो दूध पिआवत पचि पचि देत न माखन रोटी।
'सूर' श्याम चिरजीवौ दोऊ हरि हलधर की जोटी॥

(६)

मैया मैं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाइ पिराइ॥
जो न पत्याहि पूछ बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि सुनि यसुमति ग्वालिन को, गारी देत रिसाइ॥
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ[४]।
'सूर' स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिँगाइ[५]॥

(७)

मैया मोहिँ दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनों, तू जसुमति कब जायो॥

१—बलराम। २—चोटी। ३—भूमि; पृथ्वी। ४—प्रसन्न करना; बहलाना। ५—अधिक परिश्रम कराकर।

कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटुकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै[१]।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई[२], जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन[३] की सौं, हौं माता तू पूत॥

(८)

फन फन प्रति निर्तत नँदनंदन।
जल भीतर युग याम रहे कहुँ, मिट्यौ नहीं तनु-चंदन॥
उहै काछनी कटि पीताम्बर, सीस मुकुट अति सोहत।
मनु गिरि ऊपर मोर अनंदित, देखत ब्रज-जन मोहत॥
थाके अमर अमर ललना सँग, जय जय ध्वनि तिहुँ लोक।
सूर स्याम काली पर निर्तत, आवत ब्रज की वोक[४]।

(९)

माई री मुरली अति गर्व काहू बदति नाहिं आजु।
हरि को मुख कमल देख, पायो सुख राजु॥

१—अप्रसन्न होती। २—निंदक। ३—गोवर्धन अथवा गायरूपी धन। ४—ओर।

बैठति कर पीठ ढीठ, अधर छत्र माहीं।
चमर-चिकुर[1] राजत तहाँ, सुंदर सभा माहीं॥
जमुना के जलहि नाहिं, जलधि जान देति।
सुरपुर तें सुर विमान, भुवि बुलाइ लेति॥
थावर चर जंगम जहँ, करति जीति अजीति।
वेद की विधि मेटि चलति, आपने ही रीति॥
बंसी वस सकल सूर, सुर नर मुनि नाग।
श्रीपति हू श्री बिसारी, एही अनुराग॥

(१०)

जो पै राखत हौ पहिचानि।
तौ अबकै वह मोहन मूरति, मोहिँ देखावहु आनि॥
तुम रानी बसुदेव गेहनी, हौं गँवारि व्रजवासी।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो, वारौं ऐसी हाँसी॥
भली करी कंसादिक मारे, सब सुर काज किये।
अब इन गैयन कौन चरावे, भरि भरि लेत हिये॥
खान पान परिधान[2] राजसुख, जो कोउ कोटि लड़ावै।
तदपि सूर मेरो बारो कन्हैया, माखन ही सचु[3] पावै॥

(११)

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
अब कैसे रहति स्याम रँगराती, ए बातें सुनि रूखी॥

१—बाल। २—वस्त्र। ३—सुख, आनन्द।

अवधि गनत इकटक मग जोवत, तब ए इत्यों नहिँ झूखा[१]।
इते मान इहि योग सँदेसन, सुनि अकुलानी दूखी ॥
सूर सकत हठ नाव चलावत, ए सरिता हैं सूखी।
बारक वह मुख आनि देखावहु, दुहि पै पिवत पतूखी[२] ॥

(१२)

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
वचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यों पजरे पर लौन ॥
सींगी मुद्रा भस्म अधारी, अरु आराधन पौन।
हम अबला अहीर सठ मधुकर, धरि जानहिँ कहि कौन ॥
यह मत जाइ तिनहिँ तुम सिखवहु, जिनही यह मत सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी, पोत[३] पूतरी पोहत ॥

(१३)

मधुकर, इतनी कहियहु जाइ।
अति कृसगात[४] भई ए तुम बिनु, परम दुखारी गाइ ॥
जल समूह बरसति दोउ आँखनि, हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ तहाँ गोदोहन कीन्हों, सूँगति सोई ठाउँ ॥
परति पछार खाइ छिनही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तें मीन ॥

१—थकी, घबड़ाई। २—पत्तों का दोना। ३—माला या गुरिया का छोटा दाना। ४—दुबली।

(१४)

ऊधो, मोहिँ व्रज बिसरत नाहीं।
वृन्दावन गोकुल तन आवत, सघन तृनन की छाहीं॥
प्रात समय माता जसुमति अरु, नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यो सजायो, अति हित साथ खवावत॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि धनि ब्रजवासी, जिनसों हँसत ब्रजनाथ॥

—महात्मा सूरदास

५—विनयाञ्जलि

[१]

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस विस्वास भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥१॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥२॥
कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई[1]।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िए, कमठ[2]-अंड की नाईं॥३॥

१—ज़बरदस्ती। २—कछुवा।

या जग में जहँ लग या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिट इक ठाईं ॥४॥

[२]

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं[1] ॥१॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ॥३॥

[३]

मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निज भक्ति चहै हरि केरी ॥१॥
उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते ॥२॥
दुख-सुख अरु अपमान-बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई ॥३॥
सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही॥४॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट-लौ लाये॥५॥

[४]

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस, षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे[2] ॥१॥

१—बिस्तर बिछाऊँगा, सोऊँगा। २—फीके, नीरस।

वंचक विषय विविध तनु धरि अनुभवे, सुने अरु डीठे।
यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीठे[१] ॥२॥
तुलसिदास प्रभु सों एकहि बल वचन कहत अति ढीठे।
नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे[२] ॥३॥

[५]

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥१॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये सब मंगलकारी ॥२॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटैं, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥४॥
—गोस्वामी तुलसीदासजी

६—परशुराम-संवाद

दोहा

विस्वामित्र विदा भये, जनक फिरे पहुँचाय।
मिले आगिली फौज कौ, परशुराम अकुलाय ॥१॥

१—ऊबे। २—हाथ की चिट्ठी; परवाना।

चंचरीक छंद

मत्तदंति अमत्त ह्वै गये देखि देखि न गज्जहीं।
ठौर-ठौर सुदेस 'केसव' दुंदुभी नहिं बज्जहीं॥
डारि डारि हथ्यार सूरहु जीव लै लै भज्जहीं।
काटि कै तन त्रान[1] एकै नारि-वेषन सज्जहीं॥२॥

दोहा

वामदेव ऋषि सों कह्यौ, परसुराम रनधीर—
"महादेव कौ धनुष यह, को तोरेउ बलबीर ?"॥३॥
वामदेव—"महादेव कौ धनुष यह परसुराम ऋषिराज !
तोरेउ रा," यह कहत ही, समुझेउ रावन राज॥४॥

चन्द्रकला छंद

परशुराम—"वर बान सिखीन असेष समुद्रहिं,
सोखि सखा सुख ही तरिहौं।
पुनि लंकहिं औटि कलंकित कै,
फिर पंक कलंकहि कौ भरिहौं॥
भल भूंजिकै राकस[2] ग्वाक सों कै,
दुख दीरघ देवन कौ दरिहौं।
सितकंठ[3] के कंठन को कठुला,
दसकंठ के कंठन कौ करिहौं॥५॥

१—कवच। २—राक्षस। ३—शिव जी।

संयुता छंद

परशुराम—"यह कौन कौ दल देखिये ?"
वामदेव—"यह राम कौ, प्रभु ! लेखियं ॥"
परशुराम—"कहि, कौन राम ? न जानियौ ।"
वामदेव—"सर ताडुका जिन मारियौ" ॥६॥

विनय छंद

परशुराम—"ताडुका सँहारी, तिय न बिचारी,
कौन बड़ाई ताहि हने ?"
वामदेव—"मारीच हुते सँग, प्रबल सकल खल,
अरु सुबाहु काहू न गने ॥
करि क्रतु[1]-रखवारी, गुरु सुखकारी,
गौतम की तिय सुद्ध करी ।
जिन रघु-कुल मंड्यौ, हर-धनु खंड्यौ,
सीय स्वयंबर माँझ बरी" ॥७॥

दोहा

परशुराम—"हरहू कौ भौ दंड द्वै, धनुष चढ़ावत कष्ट ।
देखौ महिमा काल की, कियो सो नर-सिसु नष्ट ॥८॥

१—यज्ञ ।

विजय छंद

बोरौं सबै रघुबंस कुठार की,
धार मैं बारन[१]-बाजि[२] सरत्थहिं।
बान की बायु उड़ाय कै लच्छन,
लच्छ[३] करौं अरिहा[४] समरत्थहिं॥
रामहिं बाम-समेत पठै बन,
कोप के भार मैं भूँजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ,
तौ आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं॥९॥

सोरठा

राम देखि रघुनाथ, रथ ते उतरं बेगि दै।
गहे भरत कौ हाथ, आवत राम बिलोकियौ॥१०॥

दंडक छंद

परशुराम—"अमल सजल घनस्याम बपु[५] 'केसौदास'
चंदहू तैं चारु मुख सुखमा कौ ग्राम है।
कोमल कमल-दल-दीरघ बिलोचननि,
सोदर समान रूप न्यारौ न्यारौ नाम है॥

१—हाथी। २—घोड़ा। ३—लक्ष्य, निशाना। ४—शत्रुघ्न।
५—शरीर।

बालक विलोकियत पूरन पुरुष-गुन,
मेरो मन मोहियत ऐसो एक जाम है।
वैर मानि वामदेव को धनुष तोरो इन,
जानत हौं वीस विसे राम-वेष काम है" ॥११॥

गीतिका छंद

भरत—"कुस मुद्रिका समिधै स्रुवा[1], कुस औ कमंडल को लिये।
करमूल सर-धनु-तर्कसी, भृगु-लात सी दरसै हिये॥
धनु, बान, तीक्ष्ण कुठार 'केसव' मेखला[2] मृग-चर्म सों।
रघुबीर! को यह देखिये, रस वीर सात्विक धर्म सों॥१२॥

नाराच छंद

राम—"प्रचंड हैहयाधिराज दंडमान जानिये।
अखंड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिये॥
अदेव देव जे अभीत रच्छमान लेखिये।
अमेय तेज, भाव-भक्ति, भार्गवेस[3] देखिये॥१३॥

तोमर छंद

परशुराम—"सुनि रामचन्द्र कुमार!, मन-वचन-कीर्ति-उदार।"
राम—"भृगुवंस के अवतंस!, मन वृत्ति है केहि अंस" ॥१४॥

१—हवनादि में आहुति देने का लकड़ी का एक पात्र।
२—कोंधनी, कटिसूत्र। ३—परशुराम।

मदिरा छंद

परशुराम—"तोरि सरासन संकर कौ,
सुभ सीय स्वयंवर माँझ वरी।
ताते बढ्यौ अभिमान महा,
मन मेरियौ नेक न संक करी॥"
राम—"सो अपराध परो हम सों,
अब क्यों सुधरैं? तुम ही सो कहौ।"
परशुराम—"बाहु दै दोऊ कुठारहिं 'केसव'
आपने धाम कौ पंथ गहौ" ॥१५॥

कुंडलिया

राम—टूटै टूटनहार तरु वायुहिं दीजत दोष।
त्यों अब हर के धनुष को, हम पर कीजत रोष॥
हम पर कीजत रोष, काल-गति जानि न जाई।
होनहार ह्वै रहै, मिटै मेटी न मिटाई॥
होनहार ह्वै रहै, मोह-मद सबको छूटै।
होय तिनूका[1] बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै॥१६॥

विजय छंद

परशुराम—'केसव' हैहयराज कौ मांस,
हलाहल कौरन खाय लियौ रे।

१—तिनका; तृण।

ता लगि मेद[1] महीपन कौ घृत,
घोरि दियौ न सिरानो हियौ रे॥
खीर षड़ानन कौ मद 'केसव'
सो पल मैं करि पान लियौ रे॥
तौलौं नहीं सुख जौ लगि तू,
रघुबंस कौ सोन[2]-सुधा न पियौ रे॥१७॥

तंत्री छंद

भरत—"बोलत कैसे भृगुपति! सुनिये,
सो कहिये तन-मन बनि आवै।
आपु बड़े हौ, बड़प्पन राखौ,
जाते तुव सब जग जस पावै॥
चंदन हूँ मैं अति तन गसिये,
आगि उठै यह गुनि सब लीजै।
हैहय मारे, नृपनि सँहारे,
सो जस लै किन जुग जुग जीजै॥१८॥

नाराच छंद

परशुराम—"भली कही भरत्थ तैं उठाय अंगि[3] अंग तैं।
चढ़ात चोपि चाप आय बान लै निषंग तैं॥
प्रभाव आपनो देखाव छाँड़ि बाल भाय कै।
रिझाव राज-पुत्र मोहिं राम लै छुड़ाय कै॥१९॥

१—चरबी। २—शोण, रुधिर, लोहू। ३—अग्नि।

सोरठा

लियौ चाप जब हाथ, तीनिहुँ भैयन रोप करि।
बरज्यो श्रीरघुनाथ, तुम बालक जानत कहा ॥२०॥

दोहा

राम—"भगवंतन सों जीतियो, कबहुँ न कीने सक्ति।
जीतौ एकै बात मैं, केवल कीने भक्ति ॥२१॥

हरिगीतिका छंद

"जब हयौ हैहयराज इन, बिन छत्र छिति मंडल कर्‌यौ।
गिरि-बेध षटमुख[1] जीति, तारकनंद को जब ज्यौं[2] हर्‌यौ॥
सुत मैं न जायौ राम सों यह कह्यौ पर्वत-नंदिनी।
वह रेनुका तिय धन्य! धरती मैं भई जग-बंदिनी ॥२२॥
परशुराम—"सुनु राम! सील-समुद्र! तव बंधु हैं अति छुद्र।
मम बाड़वानल कोप, तेहि कियौ चाहत लोप ॥२३॥

दोधक छंद

शत्रुघ्न—"हौ भृगुनन्द बली जग माहीं।
राम बिदा करिये घर जाहीं॥
हौं तुम सों फिर जुद्धहिं माँड़ौं।
छत्रिय-बंस कौ बैर लै छाँड़ौं।२४॥

१—स्वामिकार्त्तिक। २—जीव।

ताटक छंद

परशुराम—यह बात सुनी भृगुनाथ जबै।
कहि "रामहिं लै घर जाहु अबै॥
इन पै जग जीवत जो बचिहौं।
रन हौं तुमसों फिर कै रचि हौं॥२५॥

दोहा

निज अपराधी क्यों हतौं गुरु-अपराधी छाँड़ि।
ताते कठिन कुठार अब, रामहिं सों रन माँड़ि॥२६॥

विजय छंद

भूतल के सब भूपन कौ, मद भोजन तौ बहु भाँति कियोई।
मोद सों तारकनंद को मेद, पछ्यावरि[1] पानि सिरायौ हियोई॥
खीर षड़ानन को मद 'केसव', सो पल में करि पान लियोई।
राम तिहारेई कंठ कौ स्रोनित, पान कौ चाहे कुठार कियोई॥२७॥

ल०—"जिन को हित अनुग्रह वृद्धि करै।
तिनको किमि निग्रह[2] चित्त परै॥
जिनको जग अच्छत सीस धरै।
तिनको तन सच्छत[3] कौन करै" ॥२८॥

१—दूध, दही और चीनी मिला पदार्थ। २—लड़ाई। ३—सक्षत, घायल।

प०—हाथ धरे हथियार सबै तुम सोभत हौ।
मारन हारहिं देखि कहा मन छोभत हौ॥
छत्रिय के कुल ह्वै किमि नैनन दीन रचौ। बैन न
कोटि करो उपचार न कैसहुँ मीचु बचौ॥२९॥

ल०—"छत्रिय ह्वै गुरु लोगन की प्रतिपाल करैं।
भूलिहु तौ तिनके गुन-अवगुन जी न धरैं॥
तौ हमको गुरु ! दोप नहीं अब एक रती।
जो अपनी जननी तुमहीं सुख पाय हती॥३०॥

प०—"लक्ष्मण के पुरिखान कियौ, पुरुसारथ सो न कह्यौ परई।
वेष बनाइ कियौ बनितान कौ, देखत 'केसव' ह्यौ[१] हरई॥
क्रूर कुठार निहार तजै फल, ताकौ यहै जौ हियौ जरई।
आज तैं केवल ताकौ महाधिक, छत्रिन पै जो दया करई॥२१
पै जे

गीतिका छंद

तब एक बिंसति बेर मैं, बिन छत्र की पृथिवी रची।
बहु कुंड स्रोनित सों भरे, पितु तर्पनादि-क्रिया सची॥
उबरे जे छत्रिन छुद्र, भूतल सोधि सोधि संहारिहौं।
अब बाल, बृद्ध न ज्वान छाँड़हुँ, धर्म निर्दय पारिहौं॥३२॥

१—हृदय।

दोहा

राम—"भृगुकुल-कमल-दिनेस सुनि, ज्योति सकल संसार।
क्यों चलिहै इन सिसुन पै, डारत हौ जस-भार" ॥३३॥

सोरठा

प०—"राम सुबंधु सँभार, छाँड़त हौं सर प्रानहर।
देहु हथ्यारन डार, हाथ समेतिन वेगि दै" ॥३४॥

राम—सुनि सकल लोक गुरु जामदग्नि[1]।
तप विसिष असेषन की जु अग्नि॥
सब बिसिष छाँड़ि सहिहौं अखंड।
हर-धनुष करयौ जब खंड खंड ॥३५॥

सवैया

प०—बान हमारेन के तन-त्रान,विचारि विचारि विरंचि करे हैं।
गो-कुल, ब्राह्मन, नारि नपुंसक, जे जग दीन-सुभाव भरे हैं॥
राम कहा करिहौ तिनको, तुम बालक देव-अदेव डरे हैं।
गाधि के नंद तिहारे गुरू, "जिन ये ऋषि-वेश किये उबरे हैं
॥३६॥

षट्पद

राम—"भगन भयो हर धनुष साल[2] तुमको अब सालै।
वृथा होय विधि-सृष्टि ईस आसन तें चालै॥

१—परशुराम। २—दुःख।

सकल लोक संहरहु शेष सिर तैं धर डारैं।
सप्त सिन्धु मिलि जाहिं होहि सबही तम भारैं॥
अति अमल ज्योति नारायनी, कहि 'केसव' बुड़ि जाहि बरु।
भृगुनंद सँभारु कुठार मैं, कियौ सरासन-जुक्त-सरु"॥३७॥

स्वागता छंद

राम-राम जब कोप कर्‌यौ जू। लोक लोक भय भूरि भर्‌यौ जू।
महादेव तब आपुन आये। राम-देव दोऊ समझाये॥३८॥

दोहा

महादेव कौ देखि कै, दोऊ राम विशेष।
कीन्हौ परम प्रनाम उन, आसिष दियौ असेष॥३९॥

चतुष्पदी

"भृगुनंदन सुनिए, मनमहुँ गुनिए, रघुनंदन निरदोषी।
नित ये अधिकारी, सब सुखकारी सब ही विधि संतोषी॥
एकै तुम दोऊ, और न कोऊ, एकै नाम कहायौ।
आयुर्बल खूट्यौ[1], धनुष जु टूट्यौ, मैं तन, मन सुख पायौ॥४०॥

पद्धटिका छंद

तुम अमल अनंत अनादि देव, नहिं बेद बखानत सकल भेव।
सबकौ समान नहिं बैर-नेह, भव-भक्तन-कारन धरत देह॥

१—खूटना = घटना।

अब आपनपौ पहिचानि विप्र !, सब करहु आगलो काज छिप्र[१]।
सब नारायन कौ धनुष जानि, भृगुनाथ दियौ रघुनाथ-पानि ।।४१।।

मोदनक छंद

नारायन कौ धनु-बान लियौ, ऐंच्यो हँसि देवन मोद कियो ।
रघुनाथ कह्यौ अब काहि हनौ, त्रैलोक्य कँप्यौ भय मानि घनौ ।।
दिवि-देव दहे, बहु बात बहे, भूकंप भयो गिरिराज ढहे ।
आकास बिमान अमान[२] छये, हा ! हा ! सब ही यह सब्द रये ।।४२।।

शशिवदना छंद

परशुराम—जग गुरु जान्यौ । त्रिभुवन मान्यौ ।।
मम गति मारौ । हृदय विचारौ ।।४३।।

दोहा

विषयी की ज्यों पुष्पसर, गति कौ हनत अनंग ।
रामदेव त्योंही कियौ, परशुराम-गति-भंग ।।४४।।

चतुष्पदी छंद

सुर-पुर गतिभानी, सासन मानी, भृगुपति कौ सुख भारौ ।
आसिष-रस भीने, सब सुख दीने, अब दसकंठहिं मारौ ।।४५।।

१—क्षिप्र; शीघ्र । २—असंख्य ।

दोहा

सोवत सीतानाथ के, भृगु मुनि दीन्हीं लात।
भृगुकुल-पति की गति हरी, मनौ सुमिरि वह बात ॥४६॥

सवैया

ताड़का तारि, सुबाहु सँहारि कै गौतम-नारि के पातक टारे।
चाप हत्यौ हर कौ हँसिकै सब देव-अदेव हुते सब हारे॥
सीतहिं ब्याह अभीत चल्यौ, गिरि-गर्व चढ़े भृगुनंद उतारे।
श्री गरुड़ध्वज कौ धनु लै रघुनंदन, औधपुरी पगु धारे ॥४७॥

—केशवदास

७—बिहारी-विनोद

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥१॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि[1]।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥२॥
कीन्हैं हूँ कोरिक जतन, अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि, पानी मैं को लौनु ॥३॥

[1]—पुकार, प्रार्थना।

लग्यौ सुमनु ह्वै है सफल, आतप-रासु निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि, सुहृदता-बारि ॥ ४ ॥
जम-करि-मुँह तरहरि पर्‌यौ, इहिं धरहरि चितलाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥ ५ ॥
कौन भाँति रहिहै विरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइकै, गीधे[1] गीधहिं तारि ॥ ६ ॥
थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हूँ कान्ह मनौ भये, आज कालिह के दानि ॥ ७ ॥
दियौ सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अयेरि[2]।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥ ८ ॥
तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस-राग रति-रंग।
अनबूड़े[3] बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ९ ॥
या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्यामरँग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥१०॥
मरनु भलौ बरु बिरह तैं, यह निहचय करि जोइ।
मरन मिटै दुखु एक कौ, बिरह दुहूँ दुखु होइ ॥११॥
घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ो लखाइ ॥१२॥
मरकत-भाजन-सलिल-गत इन्दु-कला कैं बेख।
झींन झगा मैं झलमलै स्याम गात-नख-रेख ॥१३॥

१—एक बार लाभ उठाकर सदा उसी का इच्छुक रहना।
२—अङ्गीकार कर। ३—अधबूड़े।

बड़े न हूजै गुनतु बिनु, बिरद-बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु[१], गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥१४॥
जात जात बितु होतु है, ज्यौं जिय मैं संतापु।
होत होत जौ होइ तौ, होइ घरी मैं मोषु[२]॥१५॥
हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार॥१६॥
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरन कौं, प्रेम-पयोधि पगारु[३]॥१७॥
मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहूँक आएँ यहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु॥१८॥
न ए बिससियहि[४] लखि नए, दुरजन दुसह-सुभाइ।
आँटैं[५] परि प्रानतु हरत, काँटैं लौं लगि पाइ॥१९॥
नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥२०॥
बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै बरु समूल कुम्हिलाइ॥२१॥
कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु॥२२॥

१—सुवर्ण। २—मोक्ष; मुक्ति। ३—पोखर; उथला तालाब।
४—विश्वास कीजिए। ५—आँटे परि = दाव लगने पर।

तौ लगु या मन-सदन मैं, हरि आवैं किहिं बाट।
विकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट-कपाट ॥२३॥
भजन कह्यौ तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन[१] जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ॥२४॥
तच्यौ आँच अब विरह की रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि ॥२५॥
जौं चाहत चटकु न घटे, मैलो होइ न मित्त।
रज-राजसु न छुवाइ तौ, नेह-चीकनौं चित्त ॥२६॥
यह बिरिया नहिँ और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिँ, कीने पार पयोधि ॥२७॥
कहै यहै स्रुति सुम्रित्यौ[२], यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हीं, पातक राजा रोग ॥२८॥
समै समै सुंदर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥२९॥
वे न इहाँ नागर[३] बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई गाँव गुलाब ॥३०॥
खल-बढ़ई बलु करि थके, कटै न कुबत-कुठार।
आलवाल[४] उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार ॥३१॥
मूढ़ चढ़ाएँऊ रहै परयौ पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हारु ॥३२॥

१—भागना। २—स्मृतियाँ। ३—नगर-निवासी।
४—थामला।

इक भीजैं चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै, वै[१]-नै[२] चढ़ती बार ॥३३॥
जाकैं एकाएक हूँ जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै आकु उहडहौ होइ ॥३४॥
कहलाने[३] एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ दाग निदाघ ॥३५॥
लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै, गो गोपी गोपाल ॥३६॥
अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं-त्यौं सब कौं सेइबौ, एकै नंद-किसोरु ॥३७॥
पटु पाँखै भखु काँकरैं, सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं, एकै तुम्हीं विहंग ॥३८॥
अरे परेखौ[४] को करै, तुम्हीं बिलोकि विचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियैं, खरैं बढ़ैं परिवारि ॥३९॥
कर लै सूँघि सराहि हूँ, रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध गुलाब को, गवई गाहकु कौनु ॥४०॥
किती न गोकुल कुलबधू किहिं न काहि सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥४१॥
को छूट्यौ इहिं जाल परि, कत कुरंग[५] अकुलात।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥४२॥

१—वय, अवस्था। २—नदी। ३—कुम्हलाये हुए; घबड़ाये हुए। ४—परीक्षा; पछतावा। ५—हरिण।

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥४३॥
सोहत ओढ़ैं पीतु पटु स्याम सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु[1] पर्‌यौ प्रभात ॥४४॥
गोधन तूँ हरष्यौ हियैं, घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर, परत पसुनु कै पाइ ॥४५॥
ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होउँगौ, हौं हरि अपनी चाल।
हठु न करौ अति कठिनु है, मो तारिबौ गोपाल ॥४६॥
कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितनु के साथ[2]।
मेरे गुन-औगुन गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥४७॥

—बिहारीलाल

८—अनुभव-रत्नावली

रहिमन को कोउ का करै, ज्वारी, चोर, लबार।
जो पत-राखनहार है, माखन-चाखन-हार ॥१॥
तैं रहीम मन आपनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसि बासर लाग्यौ रहै, कृष्णचन्द्र की ओर ॥२॥
अमरबेलि बिनु मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिए काहि ॥३॥

१—धूप। २—समूह।

अच्युत[1] - चरन-तरंगिनी, शिव-सिर-मालति-माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इंदव-भाल[2] ॥४॥
कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥५॥
कमला थिर न रहीम कहि, लखत अधम जे कोय।
प्रभु की सो अपनी कहै, क्यों न फजीहत होय ॥६॥
कहि रहीम इक दीप तें, प्रगट सबै दुति होय।
तन-स्नेह कैसे दुरै, दृग-दीपक जरु दोय ॥७॥
काज परै कछु और है, काज सरै कछु और।
रहिमन भँवरी के भये, नदी सिरावत मौर ॥८॥
खैंचि चढ़नि, ढीली ढरनि, कहहु कौन यह प्रीति।
आज काल मोहन गही, बंस दिया[3] की रीति ॥९॥
गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत-उधार कर, और न कछू उपाव ॥१०॥
गुन ते लेत रहीम जन, सलिल कूप ते काढ़ि।
कूपहु ते कहुँ होत है, मन काहू को बाढ़ि ॥११॥
छिमा बड़न को चाहिए, छोटिन के उतपात।
का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥१२॥
जब लगि जीवन जगत में, सुख दुख मिलन अगोट[4]।
रहिमन फूटे गोट ज्यों, परत दुहुन सिर चोट ॥१३॥

१—विष्णु। २—महादेव। ३—बाँस पर लटका हुआ दीपक।
४—आश्रय; आधार।

जब लगि वित्त[१] न आपुने, तब लगि मित्र न कोय।
रहिमन अंबुज अंबु बिनु, रवि नाहिँन हित होय ॥१४॥

जलहि मिलाय रहीम ज्यों, कियो आप सम छीर।
अँगवहि आपुहि आप त्यों, सकल आँच की भीर ॥१५॥

जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।
रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाँड़त छोह[२] ॥१६॥

जैसी जाकी बुद्धि है, तैसी कहै बनाय।
ताको बुरो न मानिये, लैन कहाँ सूँ जाय ॥१७॥

जो बड़ेन को लघु कहैं, नहिँ रहीम घटि जाहिँ।
गिरधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिँ ॥१८॥

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत-गति सोय।
बारे उजिआरो लगे, बढ़े अँधेरो होय ॥१९॥

जो रहीम पगतर परो, रगरि नाक अरु सीस।
निठुरा आगे रोयबो, आँसु गारिबो खीस ॥२०॥

तन रहीम है कर्मबस, मन राखो ओहि ओर।
जल में उलटी नाव ज्यों, खैंचत गुन के जोर ॥२१॥

तरुवर फल नहिँ खात हैं, सरवर पियहि न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति सँचहि सुजान ॥२२॥

दिव्य दीनता के रसहिं, का जाने जग अंधु।
भली बिचारी दीनता, दीनबंधु से बंधु ॥२३॥

१—धन। २—स्नेह।

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबंधु सम होय॥२४॥

धन दारा[1] अरु सुतन सों, लगो रहे नित चित्त।
नहिं रहीम कोऊ लख्यो, गाढ़े[2] दिन को मित्त॥२५॥

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी[3] तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥२६॥

नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत।
ते रहीम पशु ते अधिक, रीझेहु कछू न देत॥२७॥

निज कर क्रिया रहीम कहि, सिधि भावी के हाथ।
पाँसे अपने हाथ में, दाँव न अपने हाथ॥२८॥

पसरि पत्र झंपहि पितहिं, सकुचि देत ससि सीत।
कहु रहीम कुल कमल के, को बैरी को मीत॥२९॥

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय॥३०॥

फरजी[4] साह न ह्वै सकै, गति टेढ़ी तासीर।
रहिमन सीधी चाल सों, प्यादो होत वजीर॥३१॥

भावी काहू ना दही[5], भावी दह भगवान।
भावी ऐसी प्रबल है, कहि रहीम यह जान॥३२॥

मन सें कहाँ रहीम प्रभु, दृग सों कहाँ दिवान[6]।
देखि दृगन जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान॥३३॥

१—स्त्री। २—कठिन, विपत्ति के। ३—अहल्या।
४—मंत्री, वज़ीर। ५—जलाई। ६—दीवान, मंत्री।

मान सहित विष खाइ के, संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पिए, राहु कटायो सीस ॥३४॥
मुकता कर, करपूर कर, चातक-जीवन जोय[1]।
येतो बड़ो रहीम जल, ब्याल-बदन विष होय ॥३५॥
रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेहते, कस न भेद कहि देइ ॥३६॥
रहिमन अपने गोत को, सबै चहत उत्साह।
मृग उछरत आकास को, भूमी खनत बराह[2] ॥३७॥
रहिमन ओछे नरन सों, बैर भलो ना प्रीति।
काटे चाटे श्वान के, दोउ भांति विपरीति ॥३८॥
रहिमन खोटी आदि की, सो परिनाम लखाय।
जैसे दीपक तम भखै, कज्जल बमन कराय ॥३९॥
रहिमन घरिया रहँट की, त्यों ओछे की डीठि।
रीतिहि सनमुख होत है, भरी दिखावै पीठि ॥४०॥
रहिमन गठरी धूरि की, रही पवन ते पूरि।
गांठ युक्ति की खुल गई, अंत धूरि की धूरि ॥४१॥
रहिमन हानि दरिद्रतर, तऊ जाँचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुँआ खनावत[3] लोग ॥४२॥
रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो छिटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गांठ पड़ जाय ॥४३॥

१—देखो। २—वाराह, शूकर। ३—खनाना = खुदवाना।

रहिमन पर-उपकार के, करत न यारी बीच।
मांस दियो शिवि भूप ने, दीन्हों हाड़ दधीच ॥४४॥
रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरं, मोती, मानुष, चून ॥४५॥
रहिमन बहु भेषज[1] करत, व्याधि न छाँड़त साथ।
खग मृग बसत अरोग वन, हरि अनाथ के नाथ ॥४६॥
रहिमन मनहिं लगाइ कै, देखि लेहु किन कोय।
नर को बस करिबो कहा, नारायन बस होय ॥४७॥
रहिमन यह तन सूप है, लीजै जगत पछोर।
हलुकन को उड़ि जान दै, गरुए राखि बटोर ॥४८॥
समय लाभ सम लाभ नहिं, समय चूक सम चूक।
चतुरन चित रहिमन लगी, समय चूक की हूक[2] ॥४९॥
सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीति न धीम।
पै मराल[3] को मानसर, एकै ठौर रहीम ॥५०॥
ससि, सँकोच, साहस, सलिल, मान, सनेह रहीम।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात हैं, घटत घटत घटि सीम ॥५१॥

—'रहीम'

१—औषध। २—कसक। ३—हंस।

६—वीर-पूजा

(शिवाजीविषयक)

दान समै द्विज देखि मेरुहू कुबेरहू की
सम्पति लुटाइवे को हियो ललकत[1] है।
साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर
सिव की कथान में सनेह झलकत है॥
भूषन जहान हिन्दुवान के उबारिबे को
तुरकान मारिबे को बीर बलकत[2] है।
साहिन सों लरिबे की चरचा चलत आनि
सरजा[3] के दृगनि उछाह झलकत है॥
काहू के कहे सुने तें जाही ओर चाहैं
ताही ओर इकटक घरी चारिक चहत हैं।
काहे ते कहत बात काहे तें पियत खात
भूषन भनत ऊँची साँसन जहत[4] हैं॥
पौढ़े[5] हैं तो पौढ़ें, बैठे बैठे, खरे खरे,
हमको हैं, कहा करत, यों ज्ञान न गहत हैं।
साहि के सपूत सिव साहि तव बैर इमि
साहि सब रात दिन सोचत रहत हैं॥

१—उत्सुक होता है। २—बलकना = उमंग में भरना; जोश में आना। ३—सरजाह = शिवाजी। ४—जम्हाई लेते हैं। ५—लेटे हुए।

मार करि पातसाही खाकसाही कीन्हीं जिन
जेर[1] कीन्हीं जोर सों लै हद सब मारे की।
खिसि गई सेखी फिसि गई सूरताई सब
हिसि गई हिम्मति हजारों लोग सारे की॥
बाजत दमामे लाखों धौंसा आगे घहरात
गरजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे की॥
दूलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामे वारे
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की॥
छूटत कमान और तीर गोली बानन के
मुसकिल होत मुरचान[2] हू की ओट में।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो
दावा बाँधि पर हल्ला बीर भट जोट में॥
भूषन भनत तेरी किम्मत कहाँ लौं कहौं
हिम्मत यहाँ लगि है जाकी भट भोट में।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै
अरि मुख घाव दै दै कूदे परैं कोट में॥

(छत्रसालविषयक)

निकसत म्यान तें मयूखैं[3] प्रलय भानु
कैसी फारैं तम तोम से गयन्दन[4] के जाल को।

१—अधीन। २—किलाबन्दी। ३—किरणें। ४—हाथियों।

लागत लपटि कंठ वैरिन के नागिनी सी
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन के माल को ॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल[1] को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥

भुज भुजगेस[2] की वै संगिनी भुजंगिनी-सी
खेदि खेदि खाती दीह[3] दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन[4] बीच धसि जाति
मीन पैरि पार-जात परवाह ज्यों जलन के॥
रैया राय चम्पति को छत्रसाल महाराज
भूषन सकत को बखानियों बलन के।
पच्छी पर-छीने ऐसे परे पर छीने वीर
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।

अत्र[5] गहि छत्रसाल खिझ्यो खेत बेतवे के
उतै पठानन हू कीन्हीं झुकि झपटैं।
हिम्मति बड़ी के गबड़ी के खिलवारन लौं
देत सैं हजारन हजार बार चपटैं ॥
भूषनभनत काली हुलसी असीसन को
सीसन को ईस[6] की जमाति जोर जपटैं।

१—कृपाण, तलवार। २—शेषनाग। ३—दीर्घ; विशाल।
४—हाथी की झूल (घोड़े की)। ५—अस्त्र। ६—महादेव।

समद[१] लौं समद[२] की सेना त्यों बुँदेलन की
सेलैं सम सेरैं भई बाड़व की लपटैं ॥

—भूषण

१०—भक्ति-हठ

हरि-तन करुना-सरिता बाढ़ी।
दुखी देखि निज जन बिनु साधन उमगि चली अति गाढ़ी ॥
तोरि कूल मरजादा के दोउ न्याव-करार[३] गिराए।
जित तित परे करम फल-तरुगन जड़ सों तोरि बहाए ॥
अचल बिरुद गंभीर भँवर गहि महा पाप गन बोरे।
अहसन पवन बेग अति बेगहि दीन महान हलोरे ॥
भरि दीने जन हृदय-सरोवर तीनहुँ ताप बुझाई।
'हरीचंद' हरि-जस-समुद्र में मिली उमगि हरखाई ।१॥

भजौं तो गुपाल ही कों सेवों तो गुपालै एक
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नंदलाल सों।
मेरे देवदेवी गुरु माता पिता बंधु इष्ट
मित्र सखा हरि नातो एक गोप-बाल सों ॥
'हरीचंद' और सों न मेरो संबंध कछु
आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों।

१—समुद्र। २—अब्दुस्समद। ३—न्यायरूपी किनारे।

माँगौं तो गुपाल सों न माँगौं तो गुपाल ही सों
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों ॥२॥

देखहु मेरी नाथ ढिठाई।
होइ महा अघ-रासि[1] रहन हम चहत भगत कहवाई ॥
कबहूँ सुधि तुमरी आवै जो छठे-छमाहे भूले।
ताही सों मनि मानि प्रेम अति रहत संत बनि फूले ॥
एक नाम सों कोटि पाप को करन पराछित[2] आवैं।
निज अघ बड़वानलहि एक ही आँसू बूँद बुझावैं ॥
जो व्यापक सर्वज्ञ न्याय-रत धरम-अधीस मुरारी।
'हरीचंद' हम छलन चहत तेहि साहस पर बलिहारी ॥३॥

नैना वह छबि नाहिंन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले ॥
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह वह देखन चहुँ कोरैं ॥
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी[3] काछे ॥
पर-बस भए फिरत हैं नैना एक छन टरत न टारे।
'हरीचंद' ऐसी छबि निरखत तन मन धन सब हारे ॥४॥

हम तो दोसहु तुम पै धरिहैं।
व्यापक प्रेरक भाखि भाखि कै बुरे कर्म सब करिहैं ॥

१—पाप का समूह, पापी। २—प्रायश्चित्त। ३—दुपट्टा, पीताम्बर।

भलो करम जौ कछु बनि जैहैं सो कहिहैं हम कीनो।
निसि दिन बुरे करम को फल सब तुम्हरे माथे दीनो॥
पतित-पवित्र-करन तव तुमरो साँचो ह्वै है नाम।
जब तारिहौ हठो कोउ जैसे 'हरीचन्द' अघ-धाम॥५॥

वही मैं ठाम न नेकु रही।
भरि गई लिखत लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही॥
चित्रगुप्त[1] हारे अति थकि कै बेसुध गिरे मही।
जमपुर मैं हरताल परी है कछु नहिं जात कही॥
जम भागे कछु खोज मिलत नहिं सबही बही बही।
'हरीचन्द' ऐसे को तारो तौ तुव नाम सही॥६॥

जो पै झगरन मैं हरि होते।
तौ फिर श्रम करिकै उनके मिलिबे हित क्यों सब रोते॥
घर-घर मैं नर नारिन मैं नित उठि कै झगरो होत।
वहाँ क्यों न हरि प्रकट होत हैं भववारिधि के पोत॥
पसुगन मैं पच्छिन मैं नित ही कलह होत है भारी।
तौ क्यों नहिं तहँ प्रगट होत हैं आसुहि[2] गिरवरधारी॥
झगड़हु मैं कछु पूँछ लगी है याहि होत को बार।
तनिक बात पैं झगरि मरत हैं जग के फोरि कपार॥
रे पंडितो करत झगरो क्यों चुप ह्वै बैठो मौन।
'हरीचन्द' याही मैं मिलि हैं प्यारे राधा-रौन[3]॥७॥

१—धर्मराज का मुनीम। २—आशु, शीघ्र। ३—राधारमन।

प्रभु हो ऐसी तो न बिसारो।
कहत पुकार नाथ सब रूठे कहुँ न निबाह हमारो॥
जौ हम बुरे होइ नहिं चूकत नित ही करत बुराई।
तौ फिर भले होइ तुम छाँड़त काहे नाथ भलाई॥
जो बालक अरुझाइ खेल में जननी सुधि बिसरावै।
तो कहा माता ताहि कुपित ह्वै ता दिन दूध न प्यावै॥
मात पिता गुरु स्वामी राजा जौ न छमा उर लावैं।
तौ सिसु सेवक प्रजा न कोउ विधि जग मैं निबहन पावैं॥
दयानिधान कृपानिधि केशव करुणा भक्त-भयहारी।
नाथ न्याव तजते ही बनि है 'हरीचंद' की बारी॥८॥

मेरी देखहु नाथ कुचाली।
लोक बेद दोउन सों न्यारी हम निज रीति निकाली॥
जैसो करम करैं जग मैं जो सो तैसो फल पावै।
यह मरजाद मिटावन की नित मेरे मन में आवै॥
न्याय सहज गुन तुमरो जग के सब मतवारे मानैं।
नाथ ढिठाई लखहु ताहि हम निहचय झूठो जानैं॥
पुन्यहि हेम[१] हथकड़ी समझत तासों नहिं विस्वासा।
दयानिधान नाम की केवल या 'हरिचन्दहि' आसा॥९॥

जनन सों कबहूँ नाहिं चली।
सदा सर्वदा हारत आए जानत भाँति भली॥

१—सोना, स्वर्ण।

कहा कियो तुम बलि राजा सों चतुराई न चली।
बाँधन गए बँधाए आपुहि व्यर्थहि बने छली॥
भीषम पै परतिज्ञा टारी चक्र गहायो हाथ।
अरजुन को रथ हाँकत डोले रन में लीने साथ॥
जसुदा जू सों हाथ बँधायो नाचे माखन-काज।
मैं रिनियाँ[1] तुम्हरो गोपिन सों कह्यौ छोड़ि कै लाज॥
रिन बहु जानि छाँड़िकै गोकुल भागे मथुरा जाय।
सदा सर्वदा हारत आए भक्तन सों व्रजराय॥
हमसोहूँ हारत ही बनिहै कबहुँ न जैहो जीति।
तासों हारौ 'हरीचंद' को मानि पुरानी प्रीति॥१०॥

साँझ सबेरे पंछी[2] सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार बसेरा है॥
आठ बेर नौबत बज-बज कर तुझको याद दिलाती है।
जाग-जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है॥
आँधी चलकर इधर उधर से तुझको यह समझाती है।
चेत चेत जिंदगी हवा-सी उड़ी तुम्हारी जाती है॥
पत्ते सब हिल-हिल कर पानी हर-हर करके बहता है।
हर के सिवा कौन तू है वे यह परदे में कहता है॥
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनी पर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तू नहिं सुनता है॥

१—ऋणी। २—पक्षी।

रोकर गाकर हँसकर लड़कर जो मुँह से कह चलता है।
मौत-मौत फिर मौत सभ है यही शब्द निकलता है॥
तेरी आँख के आगे से यह नदी वही जो जाती है।
यों ही जीवन बह जायेगा यह तुझको समझाती है॥
खिल-खिलकर सब फूल बाग में कुम्हला-कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गत यही है गाफिल यह तुझको दिखलाते हैं॥
इतने पर भी देख औ सुनकर क्या गाफिल हो फूला है।
'हरीचंद' हरि सच्चा साहब उसको बिलकुल भूला है॥११॥

—भारतेन्दु

११—भगीरथ का तप

(१)

पुनि लागे तप तपन जपन संकर दुख-भंजन।
बर-दायक करुना-निधान निज-जन-मन-रंजन॥
इक अँगुठा है ठाढ़ गाढ़ ब्रत संजम लीने।
सहे विविध दुख गहे मौन इक दिसि मन दीने॥

(२)

खान पान बस किए नींद नारी बिसराए।
और ध्यान सब धोइ देवधुनि[१] की धुनि लाए॥

१—गंगाजी।

गयौ बीति इहिँ रीति एक संवतसर सारौ।
उठ्यौ गगन लौं गाजि भूप कौ सुजस-नगारौ॥

(३)

तब तजि अचल समाधि आधि[1]-हर संकर जागे।
निज-जन-दुख मन आनि कसकि करुना सौं पागे॥
आतुर चले उमंग भरे भंगहु नहिँ छानी।
कृपा-कानि बरदान-देन-हित हिय हुलसानी॥

(४)

डगमग पग मग धरत तजे बरदहु[2] हरबर[3] सौं।
आए तिहिँ बन सघन बिभूषित जो नरबर सौं॥
देखि भूप कौ कृसित रूप नैननि जल छायौ।
सृंगी-नाद बिषाद-हरन सुख-करन बजायौ॥

(५)

दृग उघारि त्रिपुरारि निरखि नृप निपट चकाए।
रहे ललकि छबि-छकित पलक बिन पलक गिराए॥
सुंदर अमल अनूप भव्य भव-रूप सुहायौ।
मनु तप-तेज-स्वरूप भूप आगैं चलि आयौ॥

(६)

हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि-छटा भाल पर।
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर॥

१—कष्ट, चिन्ता। २—बैल। ३—हड़बड़ी, शीघ्रता।

फनि-पति-हार-विहार-भूमि बच्छस्थल राजै।
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छवि छाजै॥

(७)

दृढ़ कटि-धाम ललाम चाम सुभ दुरद-दुवन[1] कौ।
गूढ़ जानु जो भार भरत सहजहिँ त्रिभुवन कौ॥
अरुन-कोकनद[2] चरन सरन जो असरन जन के।
जिन कौ गुन-गुंजार करत मन-अलि मुनि-गन के॥

(८)

गौर सरीर बिभूति भूति त्रिभुवन की सोहै।
आनन परम-उदार-प्रकृति-छबि-छलक बिमोहै॥
उमगि कृपा की बारि पगनि डगमग उपजावत।
तकि तकि तांडव नचत दमकि-दम डमरु बजावत॥

(९)

मानि कामना सिद्ध जानि तूठे दुख-हारी।
भयौ भूप-मन मगन बढ़ौ आनंद-नद भारी॥
किं-कर्त्तव्य-बिमूढ़ गूढ़ भावनि भरि भाए।
रहे थकित से ठग ठनक छिन अंग डुलाए॥

(१०)

पुनि कछु धीर बटोरि जोरि कर परे धरनि पर।
बरुनिनि झारत पाय पखारत नैन-नीर-झर॥

१—द्विरद = हाथी, दुवन = दुश्मन। २—कमल।

कंपित गात लखाति प्रेम-पुलकावलि विकसति ।
उमगि कंठ लौं आइ बात हिचकी ह्वै निकसति ॥

(११)

यह करुनामय दृस्य संभु प्रनतारति-हारी ।
सके न देखि विसेषि भक्त-दुख भए दुखारी ॥
नृपहिँ और कछु करन कहन कौ ठौर न दीन्यौ ।
अंतरजामी जानि भाव अंतर कौ लीन्यौ ॥

(१२)

भुज उठाइ हरषाइ बाँकुरौ[1] बिरद सँभार्‌यौ ।
दियौ बिसद बर-राज भूप कौ काज सँवार्‌यौ ॥
हम लैहैँ सिर गंग दंग जग होहि जाहि ज्वै ।
यौं कहि अन्तर्धान भए नृप रहे चकित ह्वै ॥

(१३)

उठि महि सौं महिपाल लगे चारौं दिसि हेरन ।
कृपा-सिंधु करुना-निधान कहि इत-उत टेरन ॥
सिव कौ सुखद स्वरूप चखनिभरि चहन[2] न पाए ।
मन की मनहीं रही हाय कछु कहन न पाए ॥

(१४)

इहिँ गिलानि[3] की आनि घटा आसा घुँघराई ।
भयौ मंद मुख-चंद दंद-उम्पस उमगाई ॥

१—विकट । २—देखने । ३—ग्लानि: खेद ।

पै सुनि हर के बैन नैन आनँद-रस बरसे।
जय तप कौ करि बिहित बिसर्जन अति सुख सरसे॥

(१५)

इहिँ भाँति भगीरथ भूप बर साधि जोग जप तप प्रखर।
लीन्यौ सिहात जिहिँ लखि अमर मान-सहित चित-चहत बर॥

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०

१२—पावस-प्रमोद

अद्भुत आभावन्त अंग अति अमल अखण्डत।
घुमड़ि घुमड़ि घन घनो घूम घिरि घोर घमण्डत॥
कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत।
सुख सरसावत[1] हिय हरसावत जल बरसावत॥
उछरि उछरि जल-छाल-छिरकि छिसिछर-र-र छमकति।
चंचल चपला[2] चमचमाति चहुँघा चलि चमकति॥
मनु यह पटिया परी माँग ईंगुर की राजत।
औंद तमालन श्यामा, श्याम संग श्यामा भ्राजत॥
घर कोठनि की तरकनि दरकनि मोंटा सरकनि।
देखहु तिनकी अर-रर-रर ऊपर सों ररकनि॥१॥

१—सरसाना = हरा भरा करना। २—बिजली।

खाय चोट फन पलटि सम्हरि रिसकरि सुंकारत।
लपलपाय जुग[१] जीभ फनी 'फूँ-फूँ' फुंकारत॥
चलैं पनारे झपटि दाल तिनकी दुरि अधवर।
लै लै झोंका पौन खाति झोका अति सुंदर॥
हाथ हाथ में डारि डारि लरिका हँसि खिलकत।
कुदकि कलिन्दी[२] कूल कहूँ क्रीड़ा करि किलकत॥
देखहु ग्वार गँवार घेरि गैयन कहूँ मटकत।
झपटत झटकत पटकत सटकत लपटत रपटत॥
लखत खरी ब्रज-करी जुआनी चूवत नस नस।
हृदय हरी यहि घरी भरी उनमत्त नवल[३] रस॥२॥
यमुना ढरकि करारनि दै दै ढका ढहावति।
प्रेम-पगी रज-रँगी लखहु जनु झूमत आवति॥
चपल लहरि चित चोर चलावत चारु भँवरजल।
तरल[४] त्रिवलि तर मनहुँ लसत गम्भीर नाभिथल॥
पवन वेग सों चरचराय चरु चर-रर चरकत।
इत उत झोंका खात डार तिन अधवर[५] लटकत॥
गिरत आप सों आप पात अति सानुराग मन।
उतावरे दिसि भूलि भजत तब लेन आगमन॥
इत उत करवट लेत वियोगी पर न कितहु कल।
सांस भरत उसास त्रास कोमल कोयन जल॥३॥

१—युग; दोनों। २—कालिन्दी: यमुना। ३—नया।
४—चंचल; द्रव ५—बीच ही में।

लखि तव शोभा जपत यही नित नूतन तन धर।
हाय पयोधर ! हाय पयोधर !! हाय पयोधर[1] !!!
मेह थमत, चुहकार चहचही करत चाव चित।
फरफराय निज परन फिरत पंछी गन प्रमुदित ॥
धीर्यं धीर्यं पात तरुन के हरषावत मन।
नेक झकोरत डार झरत अनगिनत अम्बुकन ॥
घन बूँदन सन सजल थलन उपजत बुदबुद गन।
रंच वर्तुलाकार[2] बनति तिनके चहुँ ओरन ॥
बढ़ि बढ़ि अपने आप नसति जल में ताकी गति।
जिमि निरधन हिय आस उठति बढ़ि बढ़ि पुनि बिनसत ॥४॥

—कविरत्न सत्यनारायण

१३—वीर-व्रत-महिमा

गिरिवर जापै धारिकैं राखी ब्रज-जन-लाज।
ताही छिँगुनी कौ हमैं बल बानौ यदुराज ! ॥१॥
आज कहूँ तौ कल कहूँ, नाहिँ एक विश्राम।
करतु सिंह-सम सूरमा ठौर-ठौर निज ठाम ॥२॥
पद्मा-पति-पटपीत क्यों खयौ नीर-निधि-तीर ? ।
पतिहिँ फारि शैव्या दियौ निज-अँग-आधौ चीर ॥३॥

१—बादल। २—गोल।

नहिँ विचल्यौ सतपंथ ते सहि असह्य दुख-द्वंद ।
कलि में गांधी-रूप ह्वै प्रगट्यौ पुनि हरिचन्द ॥४॥
सुरतरु लै कीजै कहा, अरु चिन्तामणि-ढेरु ।
इक दधीचि की अस्थि पै वारिय कोटि सुमेरु ॥५॥
कूकरु उदरु खलायकैं, घर-घर चाटतु चून ।
रँगे रहत सदा खून सों, नित नाहर-नाखून ॥६॥
औघट[१] घाट कृपाण कौ, समर-धार विनु पार ।
सनमुख जे उतरे, तरे, परे बिमुख मँझधार ॥७॥
धनि धनि, सो सुकृती व्रती, सूर-सूर, सतसंध[२] ।
खड्ग खोलि खुलि खेत पै, खेलतु जासु कबंध ॥८॥
जे जन लोभी सीस के, ते अधीन दिन-दीन ।
सीसु चढ़ाये बिनु भयौ, कहौ कौन स्वाधीन ॥९॥
कमल-कोलि करिनीन सँग, करत कहा करिराज !
गिरितें गाजत गाज-लौं[३] रह्यौ उतरि मृगराज ॥१०॥
सुभट-नयन अंगारु, पै अचरजु एकु लखातु ।
ज्यौं-ज्यौं परतु उमाह[४]-जलु त्यों-त्यों धँधकत जातु ॥११॥
लोटि-लोटि जापै भये धूरि-धूसरित, आज ।
वत्स ! तुम्हारे हाथ है ता धरनी की लाज ॥१२॥
तौ हूँ सिंह-कुमार, जो वह खलु गज मदमंत ।
कुंभहिँ[५] नखनु विदारिहौ, अरु उखारिहौ दंत ॥१३॥

१—अवघट; बेढब। २—सच्ची प्रतिज्ञावाले। ३—बिजली, वज्र। ४—उमंग; उत्साह। ५—हाथी का मस्तक; गंडस्थल।

दई छाँड़ि निज सभ्यता, निज समाज, निज राज।
निज भाषाहू त्यागि तुम भये पराये आज ॥१४॥
फरति न हिम्मत खेत में, बहति न असि-व्रत-धार।
बल-विक्रम की बोरियाँ बिकति न हाट-बजार ॥१५॥
जिन पायनु तें जाह्नवी[1] भई प्रकट जग-पूत।
तिनही तें प्रगटे न ए तुम्हरे अनुत अछूत ॥१६॥
मतवारे सब ह्वै रहे मतवारे मत माहिँ।
सिर उतारि सतधर्म पै कोउ चढ़ावत नाहिँ ॥१७॥
रण-अन्हान सों नहिँ तुलै सहसतीर्थ कौ न्हान।
अभय-दान पै वारिये अमित यज्ञ कौ दान ॥१८॥
जौ न जन्म हरिचन्द को होतो या जग माँह।
जुग जुग रहति असत्य की अमिट अँधेरी छाँह ॥१९॥
कादर तौ जीवित मरत दिन में बार हजार।
प्रान-पखेरू वीर के उड़त एक हीं बार ॥२०॥
लुकि-छिपि बैठि मचान पै करत मृगनु पै वार।
जियत सिंह की मूँछ कौं क्यों न उखारत यार? ॥२१॥
दीननु देखि घिनात जे, नहिँ दीननु सों काम।
कहा जानि ते लेत हैं दीनबन्धु कौ नाम ॥२२॥
काम न आये आजुलौं ह्वै अनाथ-रखवार।
दिये तोहि भुजदंड ए, कहा जानि करतार ॥२३॥

१—गंगा।

कठिन राम कौ काम है, सहज राम कौ नाम।
करत राम कौ काम जे, परत राम सों काम ॥२४॥
केते गाल फुलायकैं तमकि तरेरत नैन।
लखि प्रचंड भुजदंड पै कछुवे करत बनै न ॥२५॥

—श्री वियोगी हरि

तृतीय दल

[खड़ी बोली-विलास]

१४—ब्रजराज की शिशुक्रीड़ा

(१) जन्मकाल

जब हुआ ब्रज-जीवन-जन्म था
ब्रज प्रफुल्लित था कितना हुआ।
उमगती कितनी नँदरानि थी
पुलकता कितना चित नन्द था ॥१॥

विविध सुन्दर-वन्दनवार से
सकल द्वार हुए अभिराम थे।
विहँसते ब्रज-सद्म-समूह के
मुख लसी दसनावलि थी मनों ॥२॥

नव-रसाल-सुपल्लव के बने
अजिर[1] में वर-तोरण[2] थे बँधे।
विपुल-जीह विभूषित था हुआ
वह मनो रस-लेहन के लिए ॥३॥

गृह गली मग मंदिर चौरहों
तरुवरों पर थी लसती ध्वजा।
समुद सूचित थी करती मनों
वह समस्त-कथा सुरलोक को ॥४॥

१—आँगन। २—वंदनवार।

विपणि[1] हो वर-वस्तु-विभूषिता
मलिन थीं करती अलकापुरी[2] ।
वर-वितान विमंडित ग्राम की
सुछवि थी अमरावति-रंजिनी ॥५॥

सजल कुम्भ सुशोभित द्वार थे
सुमन-संकुल थी सिगरी गली ।
अति-सु-चर्चित थे सब चौरहे
रस प्रवाहित-सा सब ठौर था ॥६॥

सकल धेनु सुसज्जित थीं हुईं
वसन भूषण औ शिखिपुच्छ[3] से ।
अति अपूर्व अलंकृत थीं हुई
विपुल-ग्वाल मनोरम मण्डली ॥७॥

मधुर मंजुल मंगल गान की
मच गई ब्रज में बहु धूम थी ।
सरस औ अतिही मधुसिक्त[4] थीं
नवल कामिनि की कलकंठता ॥८॥

विविध उत्सव की कमनीयता
विपुलता-अति याचक-वृन्द की ।
प्रचुरता धन रत्न प्रदान की
अति मनोरम औ रमणीय थी ॥९॥

१—बाज़ार । २—कुबेरपुरी । ३—मोरपंख । ४—मधुर ।

विविध भूषण-वस्त्र-विभूषिता
वह विनोदवती वर-बालिका।
विहँसती, गृहनन्द पधारती
सुखद थीं कितना जन-वृन्द को ॥१०॥

ध्वनि विभूषण की वह माधुरी
वह अलौकिकता कलतान की।
मधुर वादन[1] वाद्य[2]-समूह का
हृदय के कितना अनुकूल था ॥११॥

(२) पलने में

जब रहे ब्रजचन्द छ मास के
दसन दो मुख में जब थे लसे।
तब बड़े कुसुमोपम[3] तल्प[4] में
वह उछाल रहे पद-कंज थे ॥१॥

महरि पास खड़ी इस तल्प के
छवि अनुत्तम[5] थीं अवलोकती।
अति मनोहर कोमल कंठ से
कलित गान कभी करती रहीं ॥२॥

जब कभी जननी मुख चूमतीं
कल कथा कहतीं चुमकारतीं।

१—बजना। २—बाजा। ३—फूलों के समान। ४—सेज; पलना। ५—अत्यन्त श्रेष्ठ।

उमँगना हँसना उस काल का
अति अलौकिक था व्रजचन्द का ॥३॥

कुछ-खुले-मुख की सुषमा-मयी
यह हँसी जननी-मन-रंजिनी।
लसित यों मुखमण्डल पै रही
विकच[1] पंकज ऊपर ज्यों कला ॥४॥

दसन दो हँसते मुख मंजु में
दरसते अति ही कमनीय थे।
नवल कोमल पङ्कज-कोष में
विलसते विवि[2] मौक्तिक हों यथा ॥५॥

जननि के अति वत्सलता-पगे
ललकते विवि लोचन के लिये।
दसन थे रस के युग बीज-से
सरस धार सुधा सम थी हँसी ॥६॥

जब सुव्यंजक[3] भाव विचित्र के
निकलते मुख-अस्फुट[4] शब्द थे।
तब कई अधरांबुधि[5] से कढ़े[6]
जननि को मिलते वर रत्न थे ॥७॥

१—खिला हुआ। २—दो। ३—प्रकट करनेवाले। ४—जो साफ़ न हों; तोतले। ५—ओठरूपी समुद्र। ६—निकले हुए।

गगन सांध्य समान सु श्रोष्ठ थे
दसन थे युगतारक[1] से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी
जननि मानस की अभिनन्दिनी[2] ॥८॥

विमल चन्द विनिन्दक[3] माधुरी
विकच वारिज की कमनीयता।
वदन में जननी बलवीर के
निरखती बहु विश्व विभूति थी ॥९॥

(३) घुटनों चलना

जननि-मानस पुण्य-पयोधि में
लहर एक उठा सुख-मूल थी।
वह सु-वासर था व्रज के लिये
जब चले घुटनों व्रज-चन्द थे ॥१॥

उमगते जननी मुख देखते
किलकते हँसते जब लाड़िले।
अजिर में घुटनों चलते रहे
वितरते[4] तब मोद अपार थे ॥२॥

विमल व्योम[5]-विराजित चंद्रमा
सदन शोभित दीपक की शिखा।

१—दो तारे। २—आनन्द देनेवाली। ३—निन्दा करनेवाली। ४—बाँटते। ५—आकाश।

जननि-अङ्क-विभूषण के लिये
परम कौतुक की प्रिय-वस्तु थी ॥३॥
नयन रंजन अञ्जन मंजु सी
जब कभी रज श्यामल गात की।
जननि थी कर से निज पोंछती
उलहती तब बेलि विनोद थी ॥४॥
जब कभी कुछ लेकर पाणि में
वदन में व्रजनन्दन डालते।
चकित-लोचन से अथवा कभी
निरखते जब वस्तु विशेष थे ॥५॥
प्रकृति के नव थे तब खोलते
विविध ज्ञान मनोहर ग्रंथि को।
दमकती तब थी द्विगुणी शिखा
महरि मानस मंजु प्रदीप की ॥६॥
कुछ दिनों उपरान्त व्रजेश के
चरण भू पर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर[१] औ कटिकिङ्किणी[२]
ध्वनित हो उठने गृह में लगी ॥७॥
ठुमुकते गिरते पड़ते हुए
जननि के कर की उँगली गहे।

१—पैंजनी। २—कमर के घुंघरूदार करधनी।

सदन में चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था ॥८॥
क्वणित[1] होकर के कटिकिंकिणी
विदित थी करती इस बात को ।
चकितकारक पण्डित-मण्डली
परम अद्भुत बालक है यही ॥९॥
कलित नूपुर की कल-वादिता
जगत को यह थी जतला रही ।
कब भला न अजीव सजीवता
परस के पद पंकज पा सके ॥१०॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

१५—ग्राम्य माधुरी

नगर से दूर कुछ, गाँव की-सी बस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम ।
जहाँ पत्रजाल-अन्तराल[2] से झलकते हैं—
लाल खपरैल, श्वेत छज्जों के सँवारे धाम ॥
बीचो बीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ।

१—बजती हुई । २—मध्य; बीच ।

चढ़ी मञ्जु मालती लता है जहाँ छाई हुई
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ो हैं श्याम ॥
भूरी हरी घास आस-पास; फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल[१], सघन फिर, और आगे
एक रङ्ग मिला चला गया पीत-पारावार[२] ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग[३]-राशि[४]-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार—
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमण्डल से
धुँधली-सी नीली नगमाला[५] उठी धुँआधार ॥
अङ्कित नीलाभ रक्त-गर्भ श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में—
फलियाँ हैं करतीं सङ्केत जहाँ मुड़ते हैं,
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में ॥
बैठते हैं प्रीति-भोज-हेतु आसपास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पङ्खों ने सराटे भरे
हम मेंड-पार हुए एक ही उछाल में ॥
देखते हैं जिधर उधर ही रसाल[६]-पुञ्ज
मञ्जु मञ्जरी[७] से मढ़े फूले न समाते हैं।

१—जो घना न हो। २—समुद्र। ३—ऊँची। ४—ढेर।
५—वनमाला। ६—आम। ७—बौर।

कहीं अरुणाभ[1], कहीं पीत पुष्पराग-प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं॥
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी, जहाँ
नीचे बाल-वृन्द उसी बोल से चिढ़ाते हैं।
छलक रही है रस-माधुरी छकाती हुई
सौरभ[2] से पवन-झकोरे भरे आते हैं॥

—पं० रामचन्द्र शुक्ल

१६—तपस्वी भरत

बरसें बीत गईं, पर अब भी है साकेत[3] पुरी में रात,
तदपि रात चाहे जितनी हो, उसके पीछे एक प्रभात।
ग्रास हुआ आकाश, भूमि क्या, बचा कौन अँधियारे से?
फूट उसी के तनु से निकले तारे कच्चे पारे-से!
विकच[4] व्योम-विटपी[5] को मानों मृदुल बयार हिलाती है,
अंचल भर-भर कर मुक्ता-फल खाती और खिलाती है!
सौध-पार्श्व[6] में पर्णकुटी है, उसमें मन्दिर सोने का;
जिसमें मणिमय पादपीठ[7] है, जैसा हुआ न होने का।

१—लाल शोभावाले। २—सुगन्ध। ३—अयोध्या। ४—खिला हुआ। ५—आकाशरूपी वृक्ष। ६—राजभवन की बग़ल। ७—पीढ़ा।

केवल पादपीठ, उस पर हैं पूजित युगल पादुकाएँ,
स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप हैं दोनों के दायें-बायें।
उटज[१]-अजिर[२] में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है,
आप देव-विग्रह[३] मन्दिर से निकल लीन-सा बैठा है,
मिले भरत में राम हमें तो, मिलें भरत को राम कभी;
वही रूप है, वही रंग है, वही जटाएँ, वही सभी!
बायीं ओर धनुष की शोभा, दायीं ओर निषंग-छटा,
वाम पाणि में प्रत्यंचा है, पर दक्षिण में एक जटा!
"आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किये;
आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिये!"
सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर, किन्तु न टूटा उनका ध्यान,
कब आ पहुँची वहाँ माण्डवी[४], हुआ न उनको इसका ज्ञान।
चार चूड़ियाँ थीं हाथों में, माथे पर सिन्दूरी बिन्दु,
पीताम्बर पहने थी सुमुखी, कहाँ असित नभ का वह इन्दु?
फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में पैठा था,
मानों लौह-तन्तु[५] मोती को बेध उसी में बैठा था।
वह सोने का थाल लिये थी, उस पर पत्तल छाई थी,
अपने प्रभु के लिए पुजारिन फलाहार सज लाई थी।
तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर,
शीस झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर।

१—कुटी। २—आँगन। ३—देवता का शरीर। ४—भरत की पत्नी। ५—लोहे का धागा।

हाथ बढ़ाकर रक्खा उसने पादपीठ के सम्मुख थाल,
टेका फिर घुटनों के बल हो द्वार-देहली पर निज भाल।
टपक पड़ीं उसकी आँखों से बड़ी बड़ी बूँदें दो-चार,
दूनी दमक उठीं रत्नों की किरणें उनमें डुबकी मार!
यही नित्य का क्रम था उसका, राज-भवन से आती थी,
श्वश्रू[1]-शुश्रूषिणी[2] अन्त में पति-दर्शन कर जाती थी।
उठ धीरे प्रिय-निकट पहुँचकर, उसने उन्हें प्रणाम किया,
चौंक उन्होंने, सँभल 'स्वस्ति' कह, उसे उचित सम्मान दिया।
"जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना का क्या फल निकला?"
हँसने की चेष्टा करके भी हा! रो पड़ी वधू विकला।
"यह विषाद भी प्रिये, अंत में स्मृति-विनोद बन जावेगा,
दूर नहीं अब अपना दिन भी आने को है, आवेगा।"
"स्वामी, तदपि आज हम सबके मन क्यों रो-रो उठते हैं,
किसी एक अव्यक्त[3] आर्ति[4] से आतुर हो-हो उठते हैं।"
"प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह, सदा शंकिनी आशा है।
होकर भी बहु चित्र अंकिनी आप रंकिनी आशा है।
विस्मय है, इतनी लम्बी भी अवधि बीतने पर आई,
खड़ा न हो फिर नया विघ्न कुछ, स्वयं सभय चिन्ता छाई।
सुनो, नित्य जन-मन:कल्पना नया निकेत बनाती है,
किन्तु चंचला उसमें सुख से पल भर बैठ न पाती है।

१—सास २—सेवा करनेवाली। ३—गुप्त। ४—दुःख।

सत्य सदा शिव[1] होने पर भी, विरूपाक्ष[2] भी होता है,
और कल्पना का मन केवल सुन्दरार्थ ही रोता है।
तो भी अपने प्रभु के ऊपर है मुझको पूरा विश्वास,
आर्य कहीं हों, किन्तु आर्य के दिये वचन हैं मेरे पास।
रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से?
टोक सकेगा रामचन्द्र को कौन अयोध्या आने से?"
"नाथ, यही कहकर माँओं को किसी भाँति कुछ खिला सकी,
पर उर्मिला बहन को यह मैं आज न जल भी पिला सकी।
'कहाँ और कैसे होंगे वे?'—कह-कह माँएँ रोती हैं,
'काँटे उन्हें कसकते होंगे'—रह रह धीरज खोती हैं!
किन्तु बहन के बहनेवाले आँसू भी सूखे हैं आज,
अरुणी के वरुणालय[3] भी वे अलकों-से रूखे हैं आज!
उनके मुँह की ओर देखकर आग्रह आप ठिठकता है,
कहना क्या, कुछ सुनने में भी हाय! आज वह थकता है।
दीन-भाव से कहा उन्होंने—'बहन' एक दिन बहुत नहीं,
बरसों निराहार रहकर ये आँखें क्या मर गईं कहीं?'
विवश लौट आई रोकर मैं, लाई हूँ नैवेद्य[4] यहाँ,
'आता हूँ मैं'—कहकर देवर गये उन्हीं के पास वहाँ।"
सनिःश्वास[5] तब कहा भरत ने—"तो फिर आज रहे उपवास,"
"पर प्रसाद प्रभु का?" यह कहकर हुई माण्डवी अधिक उदास।

१—कल्याण करनेवाला; शङ्कर। २—बिगड़ी हुई आँखोंवाला; भयंकर, त्रिलोचन। ३—समुद्र। ४—भेंट। ५—गहरी साँस लेकर।

"सबके साथ उसे लूँगा मैं, बीते,—बीत रही है रात,
हाय! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात।
एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता घट जाती?
छाती नहीं फटी यदि मेरी, तो धरती ही फट जाती!"
"हाय! नाथ, धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते,
तो हम दोनों किसी तिमिर में रहकर कितना सुख पाते।
न तो देखता कोई हमको, न वह कभी ईर्ष्या करता,
न हम देखते आर्त्त किसी को, न यह शोक आँसू भरता।
स्वयं परस्पर भी न देखकर करते हम बस अंगस्पर्श,
तो भी निज दाम्पत्य-भाव[1] का उसे मानती मैं आदर्श।
कौन जानता किस आकर में पड़े हृदयरूपी दो रत्न?
फिर भी लोग किया करते हैं उनकी आशा पर ही यत्न।
ऐसे ही अगणित यत्नों से तुम्हें जगत ने पाया है,
उस पर तुम्हें न हो, पर उसको तुम पर ममता-माया है।
नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो?
उसे राज्य से भी महार्ह[2] धन देता आकर कौन अहो!
मनुष्यत्व का सत्त्व-तत्त्व यों किसने समझा-बूझा है?
सुख को लात मारकर तुम-सा कौन दुःख से जूझा है?
खेतों के निकेत बनते हैं और निकेतों के फिर खेत,
वे प्रासाद रहें न रहें, पर, अमर तुम्हारा यह साकेत।

१—पति-पत्नी का भाव। २—बहुत बड़ा हुआ, अत्यन्त पूज्य।

मेरे नाथ, जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती;
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।
रह जाता नरलोक अबुध ही ऐसे उन्नत भावों से,
घर घर स्वर्ग उतर सकता है प्रिय, जिनके प्रस्तावों[1] से।
जीवन में सुख-दुःख निरन्तर आते जाते रहते हैं,
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सहते हैं।
मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल भव-सागर का शिव-शंकर ही पीते हैं।
धन्य हुए हम सब स्वधर्म की जिस इस नई प्रतिष्ठा से,
समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल इसी अतुल की निष्ठा[2] से!
हमें ऐतिहासिक घटनाएँ जो शिक्षा दे जाती हैं,
स्वयं परीक्षा लेने उसकी लौट-लौट कर आती हैं।
अब के दिन के लिए खेद यह, जब यह दुख भी चला, चला?
सच कहती हूँ, यह प्रसंग भी मुझको जाते हुए खला!"
"प्रिये, सभी सह सकता हूँ मैं, पर असह्य तुम सबका ताप,"
"किन्तु नाथ, हम सबने इसको लिया नहीं क्या अपने आप?
भूरि-भाग्य ने एक भूल की, सबने उसे सँभाला है,
हमें जलाती, पर प्रकाश भी फैलाती यह ज्वाला है।
कितने कृती[3] हुए, पर किसने इतना गौरव पाया है?
मैं तो कहती हूँ, सुदैव ही यहाँ दुःख यह लाया है?

१—प्रसंगों। २—स्थिति; विश्वास। ३—पुण्यात्मा।

व्यथा-भरी बातों में ही तो रहता है कुछ अर्थ[1] भरा,
तप में तपकर ही वर्षा में होती है उर्वरा[2] धरा[3]।

—मैथिलीशरण गुप्त

१७—पार्थ-प्रतिज्ञा

श्रीवत्सलाञ्छन[4] विष्णु तब कह कर वचन प्रज्ञा-पगे,
धीरज बँधा कर पाण्डवों को शीघ्र समझाने लगे।
हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक[5] में,
कुछ शान्ति देती है बड़ों की सान्त्वना ही शोक में॥
"हे हे परन्तप[6]! ताप सह कर चित्त में धीरज धरो,
हे धीर भारत! हो न आरत, शोक को कुछ कम करो॥
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु कायर पर नहीं,
दृढ़ भाव अपना विपद में भी भूलते बुधवर नहीं॥
"निज जन-विरह के शोक का दुख-दाह कौन न जानता?
पर, मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय-विरह की दुस्सह-व्यथा?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा?
"आते बुरे दिन बीतने पर मनुज के जग में जहाँ,
जाते हुए कोई न कोई दुःख दे जाते वहाँ।

१—अभिप्राय; धन। २—उपजाऊ। ३—पृथ्वी। ४—'श्रीवत्स' नामक चिह्नवाले (यह चिह्न विष्णु की छाती पर है)। ५—प्रकाश। ६—अर्जुन; श्रेष्ठ तपवाला अथवा शत्रुओं को संताप देनेवाला।

अतएव अब निश्चय तुम्हारे उदय का आरम्भ है,
होगा अधिक अब दुःख क्या? यह सब दुखों का खम्भ है॥
"जिस ज्ञान के बल से अनेकों विपद-नद तरते रहे,
जिस ज्ञान के बल से सदा ही धैर्य तुम धरते रहे।
हे बुद्धिमानों के शिरोमणि! ज्ञान अब वह है कहाँ?
अवलम्ब उसका ही तुम्हें लेना उचित है फिर यहाँ॥
"निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुःखदायी सर्वथा,
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा,
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा॥
"हे वीर! देखो तो, तुम्हें यों देख कर रोते हुए,
हैं हँस रहे सब शत्रु जन मन में मुदित होते हुए।
क्या इस महा अपमान का कुछ भी न तुमको ध्यान है?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है?
"तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है?
हे अनघ[1] क्या यह विज्ञता भी आज तुमने दूर की?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की॥
"जिस बात से निज वैरियों को स्वल्प[2] सा भी हर्ष हो,
है योग्य उसका त्याग ही, बाधा न क्यों दुर्द्धर्ष[3] हो।

१—निष्पाप। २—थोड़ा। ३—प्रबल।

वह वीर ही क्या, शत्रु का सुख-हेतु हो जो आप ही,
निज शत्रुओं का तो बढ़ाना चाहिए सन्ताप ही॥
"जिन पामरों[1] ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया,
षड्यंत्र[2] रच-रच कर अनेकों विभव सारा हर लिया।
उन पापियों के देखते है योग्य क्या रोना तुम्हें ?
निज शत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित हो होना तुम्हें॥
"निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना,
पर चाहिए सबको सदा कर्तव्य अपना पालना।
हे विज्ञ! सो सब सोच कर यों शोक में न रहो पड़े,
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य धरकर हो खड़े॥
"मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
सर्वस्व मानों है हमारा हर लिया दुरुपाय[3] से।
हे वीरवर! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं ?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं ?"
श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूलकर करतल[4] युगल मलने लगे।
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े,"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े॥
उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा,
मानों हवा के ज़ोर से सोता हुआ सागर जगा।

१—नीचों। २—गुप्त जाल। ३—बुरे प्रयत्नों से (जुआ आदि द्वारा)। ४—हथेली।

मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस[१] वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?
युगनेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से,
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार-से।
निश्चय अरुणिमा[२]-मिस अनल की जल उठा वह ज्वाल ही,
तब तो दृगों का जल गया शोकाश्रुजल तत्काल ही॥
तब निकल कर नासा-पुटों[३] से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भूषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर फिर फणा फुङ्कार भरता है फणी[४]॥
करतल परस्पर क्रोध से उनके स्वयं घर्षित हुए[५],
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए—
दो पद्म शुण्डों में लिये दो शुण्डवाला गज कहीं,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं!
दुर्द्धर्ष[६], जलते से हुए, उत्ताप के उत्कर्ष से,
कहने लगे तब वे अरिन्दम[७] वचन व्यक्त अमर्ष[८] से।
प्रत्येक पल में चञ्चला की दीप्ति दमका कर घनी,
गम्भीर सागर सम यथा करते जलद घोरध्वनी॥

१—बहाना। २—लालिमा। ३—नथुनों। ४—साँप। ५—रगड़े गये। ६—जो दमन न किया जा सके। ७—शत्रुओं का दमन करनेवाले। ८—क्रोध।

"साक्षी रहे संसार सब, करता प्रतिज्ञा पार्थ मैं,
पूरा करूँगा कार्य सब कथनानुसार यथार्थ मैं।
जो एक बालक को कपट से मार कर हँसते अभी,
वे शत्रु सत्वर शोक-सागर-मग्न दीखेंगे सभी॥"
"अभिमन्यु-धन के निधन[1] में कारण हुआ जो मूल है,
इससे हमारे हत हृदय का हो रहा जो शूल है।
उस खल जयद्रथ को जगत में मृत्यु ही अब सार है,
उन्मुक्त बस उसके लिए रौरव[2] नरक का द्वार है॥"
"तज धार्तराष्ट्रों को सबेरे दीन होकर जो कहीं,
श्रीकृष्ण और अजातरिपु[3] के शरण वह होगा नहीं।
तो काल भी चाहे स्वयं हो जाय उसके पक्ष में,
तो भी उसे मैं वध करूँगा प्राप्त कर शर-लक्ष में॥"
"सुर, नर, असुर, गन्धर्व, किन्नर आदि कोई भी कहीं,
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकते नहीं।
चाहे चराचर विश्व भी उसके कुशल-हित हो खड़ा,
भू-लुठित कलरव-तुल्य उसका शीश लोटेगा पड़ा॥"
"उपयुक्त उस खल को न यद्यपि मृत्यु का भी दण्ड है,
पर मृत्यु से बढ़कर न जग में दण्ड और प्रचण्ड है।
अतएव कल उस नीच को रण-मध्य जो मारूँ न मैं,
तो सत्य कहता हूँ कभी शस्त्रास्त्र फिर धारूँ न मैं॥"

१—मृत्यु। २—एक नरक का नाम है। ३—युधिष्ठिर।

"हे देव अच्युत[1]! आपके सम्मुख प्रतिज्ञा है यही,
मैं कल जयद्रथ-वध करूँगा, वचन कहता हूँ सही।
यदि मार कर कल मैं उसे यमलोक पहुँचाऊँ नहीं,
तो पुण्य-गति को मैं कभी परलोक में पाऊँ नहीं॥"
"पापी जयद्रथ! हो चुका तेरा वृथा-विस्तार है,
मेरे करों से अब नहीं तेरा कहीं निस्तार है।
दुर्वृत्त[2]! तेरा त्राण अब कोई न कर सकता कहीं,
वीर-प्रतिज्ञा विश्व में होती असत्य कभी नहीं॥"
"विषधर[3] बनेगा रोष मेरा खल! तुझे पाताल में,
दावाग्नि[4] होगा विपिन में, वाड़व[5] जलधि-जल-जाल में।
जो व्योम में तू जायगा तो वज्र वह बन जायगा,
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा॥"
"छोटे बड़े जितने जगत में पुण्य-नाशक पाप हैं,
लौकिक तथा जो पारलौकिक तीव्रतर सन्ताप हैं।
हों प्राप्त वे सब सर्वदा को तो विलम्ब विना मुझे,
कल युद्ध में सन्ध्या-समय तक, जो न मैं मारूँ तुझे॥"
"अथवा अधिक कहना वृथा है, पार्थ का प्रण है यही,
साक्षी रहें सुन ये वचन रवि, शशि, अनल, अम्बर, मही।
सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-वध करूँ,
तो शपथ करता हूँ, स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ॥"

१—श्रीकृष्ण। २—दुराचारी। ३—सर्प। ४—वन की आग।
५—पृथ्वी के भीतर की आग।

करके प्रतिज्ञा यों किरीटी[1] क्रोध के उद्गार से,
करने लगे घोषित दिशाएँ धनुष की टंकार से।
उस समय उनकी दीप्ति ने वह दृश्य याद करा दिया,
जब शार्ङ्गपाणि[2] उपेन्द्र[3] ने था कोप असुरों पर किया॥
सुन पार्थ का प्रण रौद्र रस में वीर सब बहने लगे,
कह 'साधु साधु' प्रसन्न हो श्रीकृष्ण फिर कहने लगे।
"यह भारती[4] है वीर भारत! योग्य ही तुमने कही,
निज वैरियों के विषय में कर्तव्य है समुचित यही॥"

—मैथिलीशरण गुप्त

१८—अङ्गद और रावण

अङ्गद

मम निवेदन है कुछ आपसे,
सुन उसे उर में धर लीजिये।
ग्रहण है करता जिस युक्ति से,
मधुप सारस[5]-सार सहर्ष हो॥१॥
जनकजा रघुनायक हाथ में,
तुरत जाकर अर्पण कीजिये।

१—अर्जुन। २—विष्णु (जिनके हाथ में 'शार्ङ्ग' नामक धनुष है)। ३—विष्णु। ४—वाणी। ५—पुष्प।

पर-बधू-जन[१] से रहते सदा,
अलग सन्तत सन्त तमीचर[२] ! ॥२॥
कुशल से रहना यदि है तुम्हें;
दनुज ! तो फिर गर्व न कीजिये।
शरण में गिरिये रघुनाथ के,
निबल के बल केवल राम हैं ॥३॥
दुखद है तुमको जनकात्मजा;
तुरत दूर उसे कर दीजिये।
सुखद हो सकती न उलूक को,
नय-विशारद ! शारदचन्द्रिका[३] ॥४॥
बहुत बार हुए विजयी सही;
पर नहीं रहते दिन एक से।
सम्हल के रहिये, अब आपकी,
ग्रह-दशा न दशानन ! है भली ॥५॥
स्वकुल की करिये शुभ कामना;
सपदि[४] युक्ति वही नृप ! सोचिये।
न अब भी जिसमें करना पड़े,
कठिन सङ्गर[५] सङ्ग रमेश के ॥६॥
स्वमन को वश में रखिये सदा;
अनय[६] से पर वस्तु न लीजिये।

१—परस्त्रियाँ। २—राक्षस। ३—शरद् ऋतु की चाँदनी।
४—शीघ्र। ५—युद्ध। ६—अनीति।

नृप ! कभी सुखदायक हैं नहीं,
सुत, रमा, धन साधन के बिना ॥७॥
समय है अनमोल, कुकर्म में,
तुम विनष्ट करो उसको नहीं।
दनुज ! है जग में सुख-दायिनी,
नियम-हीन मही न महीप को ॥८॥
परम वीर चढ़े रघुवीर हैं,
तव पुरी पर वारिधि बाँध के।
क्षितिप[1] ! आकर के रिपु-राज्य में,
तनिक भी रुक सकते नहीं ॥९॥
कवि, गुणी, बुध, वीर, नयज्ञ भी,
समझिये मन में निज को स्वयम्।
पर बिना कुछ कार्य किये कभी,
न मन-मोदक[2] मोद-कलाप[3] है ॥१०॥
सब सुरासुर हैं वश आपके,
करगता[4] यदि हों सब सिद्धियाँ।
तदपि हे दनुजेश्वर ! जानना,
त्रिजगविनाशक नाशक राम को ॥११॥
अखिल-लोक नृपेश्वर राम को,
समझ के उनसे मिलिये अभी।

१—राजा। २—मन का लड्डू। ३—प्रसन्नता का समूह।
४—हाथ में आई हुई।

यह पुरी रघुनाथ रणाग्नि में,
दनुज ! होम न हो, मन में डरो॥१२॥

रावण

सुन कपे ! यम, इन्द्र, कुबेर की,
न हिलती रसना[1] मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पड़ा,
मनुज-सेवक से बकवाद भी॥१॥

यदि कपे ! मम राक्षसराज का,
स्तवन[2] है तुझसे न किया गया।
कुछ नहीं डर है—पर क्यों वृथा,
निलज ! मानव-मान बढ़ा रहा॥२॥

तनय होकर भी मम मित्र का,
शठ ! न आकर क्यों मुझसे मिला ?
उदर के श्रम हो किस भाँति तू,
नर-सहायक हाय कपे ! हुआ॥३॥

वसन भोजन ले मुझसे सदा,
विचर तू सुख से मम राज्य में।
उस नृपात्मज[3] के हित दे वृथा,
सुखद जीव न जीवन के लिये॥४॥

१—जीभ। २—प्रशंसा; यशोगान। ३—राजकुमार।

तुम बिना करतूत बका करो;
वचन-वीर! सुनो हम वीर हैं।
रिपु-विनाशक यज्ञ किये बिना,
समर-पावक पा सकते नहीं॥५॥

बल सुनाकर तू सठ! राम का,
पच मरे, पर मैं डरता नहीं।
झख[1] भयातुर हो करके, बता,
कब तिरोहित[2] रोहित[3] से हुआ॥६॥

कवल-दायक[4] के गुण-गान में,
निरत तू रह वानर! सर्वदा।
समर है सुख-दायक सूर को;
कब रुचा रण चारण[5] को भला?॥७॥

जनकजा-हत चित्त हुआ सही,
तदपि तापस से कम मैं नहीं।
मधुर मोदक क्या पच जायगा,
कपि! सवा मन वामन[6]-पेट में।॥८॥

लड़ नहीं सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में।

१—एक प्रकार की बड़ी मछली। २—छिपा हुआ। ३—रोहू मछली। ४—रोटी का टुकड़ा देनेवाला। ५—राजाश्र [illegible] ६—बौना।

कब, कहाँ, कह तो किसने लखा,
कपि ! लवा[1] रण वारण[2] से भला ॥९॥
यह असम्भव है यदि राम भी,
समर सम्मुख रावण से करें।
कह कपे ! उठ है सकती कभी,
यह रसा[3] बक-शावक-चोंच से ॥१०॥
निलज हो बहको, निज नाथ के—
सुयश-गान करो, कपि-जाति हो।
जगत् में दिखलाकर पेट को,
वचन-वीर ! न वीर बना कभी ॥११॥
मम नहीं हित-साधक जो हुआ,
वह न हो सकता पर का कभी।
कपट रूप बनाकर राम का,
कपि ! विभीषण भीषण शत्रु है ॥१२॥
मर मिटें रण में, पर राम को,
हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे ! जग में बस वीर के,
सुयश का रण कारण मुख्य है ॥१३॥
चतुरता दिखला मत व्यर्थ तू;
रसिक हैं रण के हम जन्म से।

१—एक छोटा-सा तीतर की जाति का पक्षी। २—हाथी।
३—पृथ्वी।

रुक नहीं सकते सुनके कभी,
वचन-वत्सल[1] वत्स! लड़े विना ॥१४॥
—पं० रामचरित उपाध्याय

१६—पतित-पावन

(१)

पतित[2] हो जन्म से, या कर्म ही से क्यों नहीं होवे,
पिता सबका वही है एक, उसकी गोद में रोवे।
पतित पदपद्म में होवे,
तो पावन हो ही जाता है॥

(२)

पतित है गर्त में संसार के जो स्वर्ग से खसका,
पतित होना कहो अब कौन-सा बाकी रहा उसका।
पतित ही को बचाने के
लिये, वह दौड़ आता है॥

(३)

पतित[3] हो चाह में उसके, जगत में यह बड़ा सुख है,
पतित हो जो नहीं इसमें, उसे सचमुच बड़ा दुख है।
पतित ही दीन होकर,
प्रेम से उसको बुलाता है॥

१—केवल बातों से प्रेम करनेवाला; वाग्वीर। २—गिरा हुआ; पापी। ३—झुका हुआ; नम्र; नत।

(४)

पतित होकर लगाई धूल, उस पद की न अंगों में,
पतित हैं जो नहीं उस प्रेमसागर की तरंगों में।
पतित हो 'पूत हो जाना',
नहीं वह जान पाता है॥

(५)

'प्रसाद' उसका ग्रहण कर छोड़ दे आचार अनबन है,
वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितों का पावन है।
पतित होने की देरी है,
तो पावन हो ही जाता है॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

२०—बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर-जीवनधर;
मुग्ध-शिखी[1] के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर,

[1]—मोर।

विहग-स्वर्ग के गर्भ-विधायक
कृषक-बालिका के जलधर।
कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त-मतङ्गज[१] कभी झूमते,
सजग-शशक[२] नभ को चरते;
कभी अचानक, भूतों का-सा
प्रकटा विकट महा-आकार,
कड़क, कड़क जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
समुद पैरते शुचि-ज्योत्स्ना[३] में,
पकड़ इन्दु[४] के कर[५]-सुकुमार।
श्याम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव-पल्लवित-प्रभात,
बहते हम तब अनिल[६]-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात;
उदयाचल से बाल-हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात[७],

१—हाथी। २—खरहा। ३—चाँदनी। ४—चन्द्रमा। ५—किरण; हाथ। ६—वायु। ७—निर्मल; उज्ज्वल।

फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी,
करते द्रुत[1] मारुत से बात।
संध्या का मादक-पराग पी,
झूम मलिन्दों[2]-से अभिराम,
नभ के नील-कमल में निर्भय
करते हम विमुग्ध-विश्राम;
फिर बाड़व-से सान्ध्य-सिन्धु में
सुलग, सोख उसको अविराम,
बिखरा देते तारावलि-से
नभ में उसके रत्न-निकाम।
पर्वत से लघु-धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार—
काल-चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार;
कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही-से निस्सार।
हम सागर के धवल-हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,

१—शीघ्र। २—भौंरे।

अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म, मारुत[१] के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल
धूम - धुँआरे, काजर - कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन-राज के बीर - बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर;
चमक-झमकमय मन्त्र-वशीकर,
छहर-छहरमय विष-सीकर[२],
स्वर्ग - सेतु - से इन्द्रधनुष - धर
कामरूप[३] घनश्याम अमर।

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

१—वायु। २—कण। ३—अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले।

२१—मैं नहीं चाहता चिर-सुख

(१)

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
चाहता नहीं अविरत-दुख;
सुख-दुख की खेलमिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

(२)

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

(३)

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

(४)

अविरत दुख है उत्पीड़न[१],
अविरत सुख भी उत्पीड़न;

१—पीड़ा पहुँचानेवाला।

दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग-जीवन।

(५)

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन[1] विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का!

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

२२—दरिद्रता और मातृ-भूमि

"तुमको रँगरलियाँ[2] सूझी हैं, मेरी फटती है छाती,
आँखों में हूँ रात काटती, निशिभर नींद नहीं आती।
यह चिन्ता घेरे रहती है, कैसे बीतेगा जीवन,
नहीं हाथ में शेष रहा कुछ, निकल गया जो कुछ था धन।
टके-टके को मुँह तकते हैं, फिरते मारे मारे हैं,
मेरी क़िस्मत है चक्कर में, बिगड़े भाग्य सितारे हैं।
खाने को मिल गया आज, तो कल का नहीं ठिकाना है,
मोती-दाना कभी खेल था, मोती दाना दाना है।

१—मिलना; भेंट। २—आनन्द-क्रीड़ाएँ।

तुमको देखूँ कष्ट उठाते, इक रोटी के टुकड़े को,
कब तक रोते फिरा करोगे, मित्रों से निज दुखड़े को।
जिनको मेरे पूज्य श्वशुर ने, गिरने से था बचा लिया,
दे सहायता हर प्रकार की, आसमान तक उठा दिया।
जो उनके सम्मुख दम भरते थे उनके अहसानों का,
ताँता सदा बँधा रहता था घर में जिन मेहमानों का।
जिनका तुमको बड़ा गर्व था, जिनका बड़ा भरोसा था,
जिनके लिये हमारे घर में, रहता थाल परोसा था।
वे कृतघ्न मर गये कहाँ, जो नहीं झाँकने तक आते,
अकस्मात मिल जाने पर हैं, कैसे आँख बचा जाते।
मतलब की दुनिया है सारी, नहीं किसी का कोई है,
आड़े कौन कहा आता है, किस्मत ही जब सोई है।
भूली नहीं अभी मैं वे दिन, कल ही की तो है यह बात,
सोने की घड़ियाँ थीं अपनी, चाँदी की थी प्यारी रात।
मैं ज़मीन पर पाँव न धरती, छिलते थे मखमल पर पैर,
आँखें बिछ जाती थीं पथ में, मैं जब करने जाती सैर।
मूँगे का था पलँग हमारा, सोने चाँदी के बरतन,
मोती की झालर के परदे, लाल जड़ी ज़रकश[1] चिलमन[2]।
समय फेर से ये विभूतियाँ, कालचक्र से छली गई,
कितनी प्यारी प्यारी निधियाँ, चली गई हाँ चली गई।

१—सोने के तारों की बुनी हुई।   २—झिलमिल परदा।

सब ज़ेवर मैं बेच चुकी हूँ, यह मुंदरी विवाह उपहार,
केवल बाक़ी बची और है, धन में तुम जीवन-आधार।
अपनी में पानी[1] मत खोओ, चुपके से अब चलो निकल,
रोज़गार कुछ यहाँ नहीं है, और प्रतीक्षा है निष्फल।
छोड़ें आस विदेश चलें हम, यहाँ नहीं कोई आधार,
कहीं नौकरी कर लेंगे या कर लेंगे कोई व्यापार।
बाहर घास छीलने में भी मुझको कोई ग्लानि नहीं,
यों मर मर जीने से बाहर मर जाने में हानि नहीं।
पीने को अब क्या रक्खा है आओ आँसू अब पीयें,
मर है गई भूख जीने की मर मर कब तक अब जीयें।
आटे का तो पता नहीं है, कब से पिसते जाते हैं,
पीकर हवा रहें हम कब तक, ग़म हम सब दिन खाते हैं।
कनी[2] चाट लेना अच्छा है कनिक माँगने क्यों जाऊँ,
तुम प्रियतम भूखे सो जाओ, मैं कुछ खाकर सो जाऊँ।"
"यह क्या कहा? छोड़ने को घर, यह मेरा प्यारा ईरान?
जहाँ हमारा जन्म हुआ है वही हमारा स्वर्गस्थान।
हाय! हाय! यह क्या कह डाला? प्रिये! ज़रा फिर करो विचार,
छोड़ूँ किसे? मातृभू पावन? वन उपवन अपना घरबार?
इस भू की मिट्टी पानी से यह काया है बनी हुई,
दुख-सुख के कितने आँसू से पावन रज है सनी हुई।

१—इज़्ज़त। २—हीरे की कनी जिससे मृत्यु हो जाती है।

'शैशव[1]' उदित हुआ जिस नभ पर—वही स्वर्ग, यह वही धरा,
जिस भू पर नन्हा यह पौधा लोट पोट है हुआ हरा।
इस घाटी में खेल चुके हैं 'गेंदों' के फूलों की गेंद,
चश्मे के भीं पर वह तरुवर, खाते जिससे तोड़ 'फरेंद'।
वह टीला जिस पर चढ़कर के चाँद ईद का देखा है,
जिसकी ऊँचाई से सरिता लख पड़ती इक रेखा है।
जलतरंग पर मस्त बना मन मौज उड़ाता बहता है,
खग-कलरव की गति पर रत हो हृदय नाचता रहता है।
ये झरने जिनके 'सरगम' पर साँसों की गति बाँधी है,
इनके तजने के विचार से मन में उठती आँधी है।
जिस दिन यह 'समाज' छूटेगा, हृदय ताल का होगा 'सम',
साँसों के 'दोतारे' का भी सुर तुरन्त जायेगा थम।
इससे मुझको तुम मत छेड़ो, मुझे चैन से रहने दो,
लड़ती-टकराती रोड़ों से, जीवन-सरि को बहने दो।"
"बस! बस!! बस!!! अब बहुत न बहको", -बात काट बेगम बोली,
"तबियत को तो ज़रा सँभालो, जी भर गया, बहुत हो ली।"
सिहर गई थी सुनते-सुनते, तमक उठी रिस से वह बाम,
दीठ एक लटनागिनि को—जो लख ललाट पर स्वेद[2] ललाम—
लटक चाटने चली ओस थी, उसे झटककर पीछे कर,
एक फिसलती वक्र दृष्टि से, प्रियतम को लख आँखों भर,

१—बचपन। २—पसीना।

चाहा खरी सुनाना ज्यों ही सोच बहुत ऊँचा नीचा,
गला भर गया, बोल न फूटा, आँखों को अपनी मींचा।
उसके मुख पर झलक रही थी अन्तस्तल[१] की घोर व्यथा,
दृग से आँसू निकल निकल कर कहते थे कुछ करुण-कथा—
"दशा दलित होगई यहाँ तक तुम्हें सूझती हरी हरी,
पौरुषहीन बने हो! कब तक संवेगी यों लालपरी।
सब कुछ तो खो गया, होगया रहा हमारा जो होना,
नींद नहीं टूटी अब तक, फूटी किस्मत का है रोना।
दुनिया ने करवट बदली, अब समयचक्र नीचे लाया,
क्षण भर मन को बहलाकर वह चली गई घन की छाया।
देखो समझो निज मर्यादा, अपने पुरुषों का सम्मान,
यों मत मिट्टी में मिल जाने दो अपने गौरव का ज्ञान।
उच्चवंश के ईरानी हो, जिसका उज्ज्वल है इतिहास,
च्युतकर्तव्य[२] न हो विलासता में न कराना तुम उपहास।
कष्ट हमारा जीवन ही है, है मरुभूमि हमारा देश,
फिर भी कठिन परिस्थिति से लड़ भोग भोग कर नाना क्लेश,
पूर्वज छोड़ गये हैं सम्मुख उच्चादर्शों के पद-अंग,
हो पथभ्रष्ट भला अपने सिर लेगा कायर कौन कलंक?
इस संसार-समर-प्रांगण[३] में जीवन है क्या? इक संग्राम,
रंगमंच पर नायक बनकर दिखलावें हम अपना काम।

१—हृदय के भीतर की। २—कर्त्तव्य से गिर जाना। ३—संसार-रूपी रणक्षेत्र।

हम मनुष्य हैं, क्यों निराश हो बैठें, धरे हाथ पर हाथ,
यहाँ नहीं तो और देश में परखें भाग्य धैर्य के साथ।
चलो, बनें नाविक हम दोनों, खेवें बन स्वतंत्र, जलयान,
सागर की तरंग उठ उठकर है कर रही सतत आह्वान।
देख रही हूँ चित्र उदधि का, आँखों में है वह तसवीर,
जब हम दोनों की नौका भी बढ़ती होगी सागर चीर।
हल सा जल में हलचल करता खेत जोतता हो पतवार[१],
कभी लहर पर उठ जाते हों, देख रहे हों जल संसार।
सागर में जलपक्षी उड़कर कहीं पकड़ते होवें मीन,
छोटा सा मूँगा-समूह का द्वीप बना हो कहीं नवीन।
जिस पर बैठे अगणित पक्षी सेते हों अंडे अपने,
लख एकान्त तपस्वी मानो बैठे हों माला जपने।
पाल-केतु[२] को देख दूर से, मंद पवन में लहराता,
डाँड़ों से लहरों का मस्तक चूर चूर करता आता—
मेरा वह जलयान—किसी मद्यप[३]-सा चलता डगमग चाल,
बढ़ता होवे, पक्षी भय से, उड़कर दृष्टि विहंगम[४] डाल—
मेरी नौका के ऊपर ही ऊपर जब मँडराते हों,
तब उनके ही साये में हम गीत प्रेम के गाते हों।
वह समुद्र-कन्या ढूँढ़ूँगी—अर्धमीन आधी नारी,
जब से कथा सुनी, माता से दरस लालसा है भारी।

१—नाव का डाँड़। २—पाल की ध्वजा (पाल—वह कपड़ा जिसके सहारे नाव चलती है।) ३—शराबी। ४—पक्षी।

सागर पर विचरूँगी सुख से या मोती भर लाऊँगी,
या दुनिया को पता न होगा चुपके से मर जाऊँगी।
अच्छी याद मुझे भी आई रोज़ क़ाफ़िले जाते थे,
है चिराग़ के तले अँधेरा, जो यह याद न आते थे।
जाकर हममें से कितने ही, जिनका यहाँ बुरा था हाल,
भारत से थोड़े ही दिन में लौटे होकर मालामाल।
चरवाहे जो मैदानों में घास चराया करते थे,
बालू फाँक फाँक रेते में ऊँटवान जो मरते थे।
जब से करने लगे वही सब भारत से अपना व्यापार,
तब से ऊँटों पर भर भर कर लाते हैं घर को 'दीनार'।
भारत है सोने की चिड़िया, चलो वहीं का करें सफ़र,
हिम्मत करो, कमर को बाँधो, मुशकिल है अब करनी सर[1],
किसी क़ाफ़िले के सँग पैदल, चल ही दें अब बहुत हुआ,
अपनी लो तुम तेग़ हाथ में, मैं भी करती चलूँ दुआ।
खरी खरी यों सुन, ग़यास[2] ने कहा, साँस लम्बी लेकर,
"भीगी रात, चलो सोवें अब, कल दूँगा इसका उत्तर"।

—गुरुभक्तसिंह

१—मुश्किल सर करना=कठिनाई पर विजय पाना। २—मिरज़ा ग़यास बेग—नूरजहाँ के पिता।

२३—मेरा नया बचपन

बार-बार आती है मुझको मधुर याद, बचपन तेरी।
गया, ले तू गया जीवन की सबसे मस्त ख़ुशी मेरी॥
चिन्ता-रहित खेलना-खाना, वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है बचपन का अतुलित आनन्द?
ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था, छूआ, छूत किसने जानी?
बनी हुई थी अहा! झोंपड़ी और चीथड़ों में रानी॥
रोना और मचल जाना भी क्या आनन्द दिखाते थे?
बड़े-बड़े मोती से आँसू जयमाला पहिनाते थे॥
दादा ने चंदा दिखलाया नेत्र नीर द्रुत चमक उठे।
धुली हुई[1] मुस्कान देखकर सबके चेहरे दमक उठे॥
आ जा, बचपन, एक बार फिर, दे दे अपनी निर्मल शान्ति।
व्याकुल व्यथा मिटानेवाली, वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति[2]॥
वह भोली-सी मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या फिर आकर मिटा सकेगा तू मेरे मन का संताप?
मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन-वन[3]-सी फूल उठी वह छोटी-सी कुटिया मेरी॥
'माँ-ओ'—कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आई थी।

१—पवित्र, उज्ज्वल। २—विश्राम; आराम। ३—देवताओं के वन का नाम।

कुछ मुँह में, कुछ लिये हाथ में मुझे खिलाने आई थी ॥
पुलक रहे थे अंग, दृगों में कौतूहल था छलक रहा।
मुँह पर थी आह्लाद[1] लालिमा, विजय-गर्व था झलक रहा ॥
मैंने पूछा,—यह क्या लाई ?, बोल उठी वह—माँ, काओ !
हुआ प्रफुल्लित हृदय ख़ुशी से, मैंने कहा,—तुम्हीं खाओ ॥
पाया बचपन मैंने फिर से, बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर मुझमें नव जीवन आया ॥
मैं भी उसके साथ खेलती, खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं मैं भी बच्ची बन जाती हूँ ॥

—सुभद्राकुमारी चौहान

२४—क्या पूजा क्या अर्चन ?

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?

उस असीम का सुंदर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे !
अक्षत[2] पुलकित रोम, मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !

१—हार्दिक आनन्द। २—चावल।

स्नेहभरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे!
मेरे दृग के तारक[1] में नव उत्पल[2] का उन्मीलन रे!
धूप बने उड़ते जाते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन[3] रे!
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन[4] रे!

—श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

१—पुतली। २—कमल। ३—हृदय की स्फूर्ति। ४—नाच।

परिशिष्ट

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?

तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय[1] !

तू अमल धवल है, मैं श्यामल;

ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल;

यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल।

पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !

तू गौरव-गिरि, उत्तुंग काय !

हों शत-शत झंझावात[2] प्रबल,

फिर भी स्वभावतः तू अविचल।

मैं तनिक-तनिक में चिर-चंचल;

मेटूँ कैसे यह अंतराय[3] ?

तू गौरव-गिरि, उत्तुंग काय !

अविरत तेरा करुणा-निर्झर

अगणित धाराओं से झरकर,

जीवित रखता है जीवन भर

मेरा यह जीवन जड़ित-प्राय;

तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

१—विशाल शरीरवाला; बहुत ऊँचा। २—आँधियाँ। ३—विघ्न।

हैं जहाँ अगम्य दिवाकर-कर,
तेरे गह्वर भी आकर वर
हैं ऊँचों से भी ऊँचे पर,
मन उन तक भी किस भाँति जाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

—सियारामशरण गुप्त

रस-धारा

(१)

द्रौपदी औ गनिका गज गीध, अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम-गेहिनी कैसी तरी प्रह्लाद को कैसे हर्यो दुख भारो॥
काहे को सोच करै रसखानि, कहा करिहैं रविनन्द विचारो।
ताखन जाखन राखिये माखन-चाखनहारो सो राखनहारो॥

(२)

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, उन कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

(३)

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद से सुख व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया[1] भरि छाछ[2] पै नाच नचावैं॥

(४)

प्रान वही जु रहैं रिझि वापर रूप वही जिहि वाहि रिझायो।
सीस वही जिन वे परसे पद अङ्क[3] वही जिन वा परसायो॥
दूध वही जु दुहायो री वाहि दही सु सही जो वही ढरकायो।
और कहाँ लौं कहौं रसखानि री भाव वही जु वही मन भायो॥

(५)

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठौं सिद्धि नवौं निधि को सुख, नन्द की गाइ चराइ बिसारौं॥
कोटिन हू कलधौत[4] के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।
रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं॥

—'रसखानि'

१—छोटी मटकी। २—मट्ठा: तक्र। ३—गोद, छाती। ४—चाँदी, सुवर्ण।

अन्योक्ति

(घन)

धान के खेतन पै न परैं जल के कन पाहन पै बरसावैं।
बाग बगीचन सींचन छाँड़ि कै सिन्धु पै नीर उलीचन धावैं॥
गाँठ के पूरे अधूरे विवेक के दान के रूरे¹ विधान भुलावैं।
सूमरचन्द ये सूमरवार धराधर ऊसर पै बरसावैं॥

उद्‌बोधन

माता के समान पर-पतनी विचारी नहीं,
रहे सदा पर-धन लेन ही के ध्यानन में।
गुरुजन-पूजा नहीं कीनी सुचि भावन सों,
गाँधे रहे नानाविधि विषय विधानन में॥
आयुस गँवाई सब स्वारथ सँवारन में,
खोज्यो परमारथ न वेदन-पुरानन में।
जिन सों बनी न कछु करत मकानन में,
तिन सों बनेगो करतूत कौन कानन में॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

---

१ -सुन्दर।

कविता-कलाप

[१]

शंकर नदीनद नदीसन के नीरन की
भाप बन अम्बर[1] तें ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
भारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमंडल[2] में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी॥

[२]

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी
मञ्जुल-मयङ्क-मन्द मन्द पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में
डूब डूब शङ्कर सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे॥

१—आकाश। २—आकाश-मंडल।

[३]

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से

भिन्नता की भीति करतार ने लगाई है।

नाक में निवास करने को कुटी शंकर कि

छवि ने छपाकर[1] की छाती पै छवाई है॥

कौन मान लेगा कीर तुण्ड की कठोरता में

कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।

सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे

पर ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥

—श्री नाथूराम 'शंकर' शर्मा

सच्चे काम करनेवाले

दुखों की गरज क्यों न धरती हिलावे।

लगातार कितने कलेजे कँपावे॥

विपद पर विपद क्यों न आँखें दिखावे।

बिगड़ काल ही सामने क्यों न आवे॥

कभी सूरमे हैं न जीवट[2] गँवाते।

बलायें उड़ाते हैं चुटकी बजाते॥

१—चन्द्रमा। २—साहस।

रुकावट उन्हें है नहीं रोक पाती।
उन्हें उलझनें हैं नहीं धर दबातीं॥
न पेचीदगी ही उन्हें है गढ़ाती।
न कठिनाइयाँ हैं उन्हें कुछ जनातीं॥
विचलते नहीं हैं कभी आनवाले।
उन्होंने मसल कब न डाले कसाले॥

पड़े भीड़ जौहर[1] उन्होंने दिखाये।
खुले वे कसौटी कुदिन पर कसाये॥
निखरते मिले वे विपद-आँच पाये।
बने ठीक कुन्दन[2] गये जब तपाये॥
सभी आँख में जो सके फूल से फब।
मिले वे न काँटे दुखों में खिले कब॥

न समझा कठिन पाँव बन में जमाना।
कभी कुछ बड़े पर्वतों को न माना॥
हँसी खेल जाना समुन्दर थहाना।
पड़े काम आकाश पाताल छाना॥
कठिन से कठिन काम भी जो सकें कर।
उन्होंने मुहिम[3] कौन सी की नहीं सर॥

उन्हें काठ उकठे हुए का फलाना।
उन्हें दूब का पत्थरों पर जमाना॥

१—पराक्रम। २—सोना। ३—लड़ाई।

उन्हें गंगधारा उलट कर बहाना।
उन्हें ऊसरों बीच बीये उगाना॥

बहुत ही सहल काम सा है जनाता।
भला साहसी क्या नहीं कर दिखाता॥

अड़ंग लगाना न कुछ काम आया।
वही गिर गया पाँव जिसने अड़ाया॥
दिया डाल बल झंझटों को बढ़ाया।
न तब भी उन्हें बैरियों ने डिगाया॥

जिन्हें काम कर डालने की लगी धुन।
सदा ही सके फूल काँटों में वे चुन॥

जिन्होंने न औसान अपना गँवाया।
जिन्होंने कभी जी न छोटा बनाया॥
हिचकना जिन्हें भूल कर भी न भाया।
जिन्होंने छिड़ा काम कर ही दिखाया॥

न माना उन्होंने बखेड़ों का टोना।
न जाना कि कहते किसे हैं न होना॥

चले चाल गहरी नहीं वे विचलते।
नहीं वे कतर-ब्योंत से हैं दहलते॥
किये लाख चतुराइयाँ हैं न टलते।
फँसे फन्द में हाथ वे हैं न मलते॥

उन्हें तंगियाँ हैं नहीं तान पातीं।
न लाचार[1] लाचारियाँ हैं बनातीं॥

पिछड़ना उन्हें है न पीछे हटाता।
फिसलना उन्हें है न नीचे गिराता॥
बिचलना उन्हें है सँभलना सिखाता।
गया दाँव है और हिम्मत बँधाता॥

उलझ गुत्थियाँ हैं उमंगें बढ़ातीं।
धड़े बन्दियाँ हैं धड़क खोल जातीं॥

बढ़ा जी रखा काम का ढंग जाना।
बखेड़ों, दुखों, उलझनों को न माना॥
जिन्होंने हवा देखकर पाल ताना।
जिन्हें आगया बात बिगड़ी बनाना॥

उन्होंने बड़े काम कर ही दिखाये।
भला कब तरैया न वे तोड़ लाये॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

गजेन्द्र-मोच्च

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ।

१—विवश।

कहै "रत्नाकर" निहारि करुना की कोर,
वचन उचारि, जो हरैया दुखसाज कौ ॥
अंबु पूरि हगनि विलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीन छत दन्तनि दराज कौ ।
पीतपट लै लै कै अँगोछत सरीर, कर-
कंजनि सों पोंछत भुसुंड[1] गजराज कौ ॥

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

नौकरी

१—प्रश्न

सुन्दर हार कहाँ से पाया ?
इसकी उजली चमक-दमक ने सबका हृदय लुभाया ॥
बड़े मनोहर रत्न जड़े हैं—
धन के दुर्ग खड़े हैं,
जिनके प्रभापूर्ण विशिखों[2] ने रिपु दारिद्र्य मिटाया ॥
सुन्दर हार कहाँ से पाया ?

२—उत्तर

झूठा हार गले लटकाया ।
इसकी कोरी तड़क-भड़क ने दुनिया को बहकाया ॥

१—सूँड़ । २—बाण ।

सभी काम इसका है नक़ली,
इसने हमें फँसाया,
भीतर कुछ, बाहिर कुछ, कुछ का कुछ है हमें बनाया ॥
झूठा हार गले लटकाया ॥
—बदरीनाथ भट्ट

स्वयमागत[१]

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ मची है,
कैसे भीतर जाऊँ मैं?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं,
शेष सभी धक्के खाते हैं,
क्योंकर घुसने पाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
मुझमें सभी दैन्य दूषण हैं,
वस्त्र नहीं, क्या आभूषण हैं,
किन्तु यहाँ लज्जित पूषण[२] हैं,
अपना क्या दिखलाऊँ मैं,

१—अपने आप आया हुआ। २—सूर्य।

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?
मुझमें तेरा आकर्षण है,
किन्तु यहाँ घन संघर्षण[1] है,
इसीलिए दुर्द्धर धर्षण है,
क्योंकर तुझे बुलाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?
तेरी विभव कल्पना करके,
उसके वर्णन से मन भरके,
भूल रहे हैं जन बाहर के,
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?
बीत चुकी है वेला[2] सारी,
किन्तु न आई मेरी बारी,
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ गुन गाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

१—युद्ध; खींचतान। २—समय।

कुटी खोल भीतर जाता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ,
तुझको यह कहते पाता हूँ—
"अतिथि, कहो क्या लाऊँ मैं?"
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

अचरज

मैंने कभी सोचा वह मञ्जुल मयङ्क[1] में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर[2] में है,
नाचता निहार के उसी को मञ्जु मोर है॥
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़कर जाता भृङ्ग-वृन्द जिस ओर है।
कैसा अचरज है, न मैंने जान पाया कभी,
मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्तचोर है॥

—ठाकुर गोपालशरणसिंह

१—चन्द्रमा। २—बादल।

आराधना

विश्वदेव, यह देख तुम्हारी दुर्गम चालें,
किससे क्या-क्या कहें? कहाँ तक आँसू ढालें?
जी होता है,—तुम्हें सम्हालें देखें-भालें—
'सुनो, सुनो'—क्या सुनें? भुजायें स्वयं उठा लें।
लो, सुनो, "सफलता आ रही, है किन्तु मृत्यु के साथ है,
बस, उठो, कर्म करने लगो, जीत तुम्हारे हाथ है।"
"परम पुण्य का पुञ्ज टूटनेवाला ही है,
स्वत्व[1]-सुधा का भाण्ड फूटनेवाला ही है;
सुखद मार्ग के द्वार, सदा को खुलते ही हैं,
हम तुम विधि की वीर-तुला[2] पर तुलते ही हैं।"
बस, सुनते ही सन्देश यह, हम लगे साधने साधना;
शिव के समेत करने लगे, श्रीशक्ति-चरण-आराधना।

—माखनलाल चतुर्वेदी

क्या करते हो मोल?

क्या करते हो मोल?
अरे, क्या कहा? कितना वैभव, करते जिसका मोल!
बाकी क्या जर्जर झोली में, देखो आँखें खोल!!

१—अपना अधिकार। २—तराज़ू।

चिर-संचित जीवन की निधियाँ, लुटा चुका अनमोल,
ठुकराती दुनिया दीवानी[1], और बोलती बोल !
तन, मन क्या सर्वस्व सौंपकर, हूँ मैं आज भिखारी !
मोल, मोल कह क्यों करते मेरा उपहास पुजारी !!
मुझे याद हैं, दिन अतीत[2] के आँखमिचौनीवाले,
अथक केलि करते थे हिलमिल, आसव[3]-प्याले ढाले;
उसी समय अनजान प्रकृति ने, लाखों दीपक बाले,
रजत-रजनियों में भूला था, अगणित-आशा-पाले।
क्रीड़ा की उज्ज्वल रजनी में आया दुखद सवेरा,
शुचि जीवन के कण-कण में पीड़ा ने डाला डेरा।

\+ \+ \+

चिर-ज्योतिर्मय जीवन में हुआ अचानक परिवर्तन,
कोटि-कोटि वैभव बन्धन बन, करते भीषण नर्तन;
शैशव स्मृतियाँ रोतीं रह-रह, खुलते दुख के लोचन,
विकल वेदना बढ़ती पल-पल, करती करुणा-क्रन्दन[4] !
सुख-सौरभ का रवि छिप जाता घिरती रजनी काली,
आँसू, उच्छ्वासों से केवल, सजती जीवन-प्याली।

\+ \+ \+

१—पागल। २—भूतकाल के। ३—मदिरा, शराब। ४—ज़ोर से रोना।

हास और उपहास त्याग कर देखो हृदय टटोल ;
दीवानों के धन, वैभव का क्या करते हो मोल ?

—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मैं

मैं हूँ नहीं गगन का तारा जगमग, ऊँचा, विमल, महान !
रत्न नहीं हूँ, जो कंचन-तन के उर पर पा जाऊँ स्थान !
फूल नहीं हूँ, जो उलझी अलकों[1] में सजूँ, करूँ अभिमान !
स्वाति[2] नहीं हूँ, तृप्त करूँ जो किसी तृषित चातक के प्राण !

मैं तो एक अश्रु का कण हूँ,
आंखों में भर आता हूँ।
पल-भर नर्तन कर लेता हूँ,
चरणों पर गिर जाता हूँ।

—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

किसान

तपसिनु की तप-भूमि तू कित उत खोजतु जाय।
जहँ किसान नित प्रति तपत तहँ तप-भूमि सिवाय ॥१॥

१—बालों। २—एक नक्षत्र का नाम।

पुन्य-भूमि ता सरिस कहँ सुखद पुनीत महान।
जग-पोषक तोषक सकल रमणत जहाँ किसान ॥ २ ॥
हम सम तपसी को तपै तपैं सदा त्रय-ताप।
तपि तातें आँते[1] भये ताप न मेटी आप ॥ ३ ॥
अरं फिरत कित बावरं भटकत तीरथ भूरि।
इन किसान-कुटियान की क्यों न धरत सिर धूरि ॥ ४ ॥
अहो कृषक ! तुव तप निरखि, सुरपति मन भय खाइ।
तासों अवसर पै कवौं, नहिँ जलधर बरसाइ ॥५ ॥
जाने जात न वेषसम तापस और किसान।
दोउनु 'हर[2]' कौ आसरौ दोउनु 'हर' को ध्यान ॥ ६ ॥
वह हर जगदाधार कै यह हर जगदाधार।
वुहै अलख यह नित लख्यौ जग कौ पालनहार ॥ ७ ॥
हे हर ! तैं 'हर'-सम हमैं सदा कियौ प्रतिपाल।
अब हर ! तू 'हर'-विधि हमैं पालतु करतु बिहाल ॥ ८ ॥
'हर' ही दुख-हर जगत कौ 'हर' ही जीवन-मूरि।
"सब कर हर-हर" जानिये 'हर' सों हरि नहिं दूरि ॥ ९ ॥
दृढ़ता धीर औ' वीरता, कहँ तक करैं बखान।
हारे हू 'हर' गहि रहैं, धन्य किसान किसान ॥१०॥
कर्मठ[3], कार, दूबरे, स्याम, संत अरु पीत।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जो देखत या रीत ॥११॥

१— आँते भये=तंग आ गये। २—महादेव; हल।
३.—कर्मवीर; काम करनेवाले।

सोइ ज्ञानी, सोइ पारखी, सोइ सचेत गुनवान।
जाके चित साँचो भई, कृपकन की पहिचान ॥१२॥
रचि रचि सभा सुसाइटी, कांग्रेस करौ डिफान।
परहित साधौ सहज ही, सेवौ दीन किसान ॥१३॥
मरिहौ करि करि जोर कोउ, कितनेउ गाल बजाउ।
बिना किसानन के उठैं, नहिँ स्वतन्त्रता पाउ ॥१४॥
एक कहैं ये कलप-तरु, एक कहैं दुख-खान।
एक न कछु तौ इक कहैं, जग-आधार किसान ॥१५॥
भागि भरोसे कृषक जो, वही भागि तें हीन।
कर्महीन ह्वै जगत में, रहैं कहूँ स्वाधीन ॥१६॥
दैव-कोप पुनि राज-कर, तेहि पुनि बनिक-विकार।
ताहि भागि उलटो परै, कहहु कौन उपचार ॥१७॥
तनक कसौटी पै कसे, होत धातु पहिचान।
परखे गये न, मरिमिटे, ऐसे कसे किसान ॥१८॥
कहा करौं सुख सरस लै, जो दुख दहैं किसान।
कहु तापै को मूढ मति, धरि अँगार खरियान ॥१९॥
सूखे दरिद्र किसान को, सब टरे बतराहिं।
सूखे परैं किसान तौ, सब सूखे है जाहिं ॥२०॥
गरजि गरजि घन घोर नु, कैसे हू बरसाहिं।
कृषक-जठर[१] की जरनि ए तो बृंत न बुझाहिं ॥२१॥

१—पेट।

तेरं बरसे का भयौ, श्रो मेघनु की माल।
जो कि रात दिन जरत हैं, कृषक जठर की ज्वाल ॥२२॥
बरसै तो बरसै घनौं, कै बरसनु[1] बरसै न।
का बदरा बौरौ भयो, भल अनभल दरसै न ॥२३॥
काम न आये आजु लौं जो किसान की पोर।
धिक् धन पौरुष विभव ये धिक् तुम धर्‌यो सरीर ॥२४॥

—श्री उल्फ़तसिंह 'निर्भय'

भिखारी

वह आता—
दो टूक कलेजे करता—
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों हैं मिलकर एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

---

१ – वर्षों।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओठ जब जाते
दाता भाग्य-विधाता से क्या पाते ?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते !

... ...

ठहरो, अहो, मेरे हृदय में है अमृत मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

——

सेवा

धूसरिता-सी, हेमलता-सी,
कौन कहो तुम माया-सी ?
संयमिता-सी, सुर-सरिता-सी,
शुचि शिव-पथ की जाया[1]-सी;

१—जन्म देनेवाली।

कर्म-रता-सी, वीर-व्रता-सी,
विमल-वृत्ति की काया-सी,
नय[१]-निरता-सी, जय-विरता-सी,
कौन फिरा तुम छाया-सी ?

किस फल की टटोल में हो तुम
अपने तन की सुध भूली ?
किस करनी पर बन विमुग्ध-सी
फिरती हो फूली-फूली ?

किस कारण कारागारों में
सड़ती हो, चढ़ती सूली ?
किस धुन में धरती धँसकाती
भरती हो नभ में धूली ?

भर देती हो भव्य भावना
हिला हृदय की तंत्री तुम,
मनुजोचित मंगल कृत्यों की
मानव-मन की मंत्री तुम,

पर-हित पर जीवन-दानों के
गौरव-पथ की यंत्री[२] तुम,

१—नीति। २—सवारी।

पतितों के पुनरुत्थानों के
पौरुष-रथ की यंत्री तुम।

विदित न होता बहुतेरों को
कैसी आशावादी तुम,
कंगलियों को करना चाहो
चरखे से शहज़ादी तुम।

आडंबर को दूर हटाकर
बनतीं कैसी सादी तुम।
पाटंवर[1] को पार भगाकर
धारण करती खादी तुम।

हृदयों में उत्साह जगातीं
निज मत की मतवाली तुम,
दुष्टों को दुर्गा बन जातीं
कुटिल-कुलों की काली तुम।

मर्यादा की मंजु सुता-सी
साहस की प्रतिपाली तुम,
दुःशासन की दर्प-दारिणी
कृष्णा[2] की रखवाली तुम।

हो दयालुता की देवी-सी
भावुकता की भिखारिणी,

१—रेशमी वस्त्र। २—द्रौपदी।

मानवता की मूर्ति मनोहर
पावनता की प्रचारिणी।
समता की संन्यासिनि सुभगे!
निर्बलता की निवारिणी,
विश्व-बंधुता की दूती-सी,
वैर-बुद्धि की विदारिणी।

बंधन से वाशिंगटनादिक
योधाओं की उद्धालिनी,
पृथ्वीराज, प्रतापादिक के
प्रण-पादप की सु-मालिनी।
नानक-दादू-कबीर-करुणा-
मानस की हे मरालिनी[१]!
दयानंद की दिव्य दृष्टि की
वैदिक कटुता करालिनी।

बुद्ध-हृदय की सहृदयता के
सुमनों की सरसिज-माला,
ईसा के दुख-द्रवित दयामय
मन-मुनि की मृदु मृगछाला।
अहे! मुहम्मद की महिमा के
ऐक्य-सूत्र की सुरबाला[२],

१—हंसिनी। २—परी।

मंदिर का, मसजिद का किंवा
गिरजा-घर का उजियाला।

कवियों की कमनीय कल्पना
कृषकों की है कल्प-लता,
श्रमियों की साधार लकुटिया
गुणियों की गुण-ज्ञान-गता।

अत्याचार-अनीति-करों की
चोटों से चिरकाल क्षता[१],
हीन, हता होकर भी हरदम
धैर्य-धृता[२] है धर्म-रता!

युवकों में उन्नत उमंग का
अंकुर उपजाने-वाली,
शूरों में रण-रस तरंग का
नव उठान लाने-वाली।

क्षुद्रों में दुर्बलताओं के
दुर्गों को ढाने-वाली,
अंगारों की बौछारों में
बढ़-बढ़कर जाने-वाली।

१—घायल। २—धीरज धारण करनेवाली।

वलि-वेदी की पुण्य-पुजारिनि,
त्याग-याग[१] की हे होत्री[२]!
जन-पूजा के पूत-गान की
सतत शांति-संयुत श्रोत्री[३]।

जीवन-जय की भूरि-भाग्यता
पाते हैं तव पद-सेवी,
सफल जन्म करने-वाली हो
जग में, जय सेवा-देवी!

—गोकुलचन्द्र शर्मा

१—यज्ञ। २—यज्ञ करानेवाली। ३—सुननेवाली।